

जैन साहित्य कथा माला भाग---४

# जैन इतिहास

की

## प्रसिद्ध कथाएँ



उपाध्याय आनंद मुनि

वीरायतन-राजगीर

# जैन-इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ

उपाध्याय अमरमुनि

सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा

जन साहित्य-कथामाला : भाग-४

पुस्तक :

जैन-इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ

\*

लेखक :

उपाध्याय अमरमुनि

\*

सम्पादक :

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

\*

प्रकाशक :

सन्मति ज्ञानपीठ,

लोहामण्डी आगरा-२८२००२

\*

शाखा :

वीरायतन

राजगृह-८०३११६ (बिहार)

\*

मुद्रक :

वीरायतन मुद्रणालय

\*

आवृत्ति :

चतुर्थ संस्करण ३०००

\*

मूल्य :

पाँच रुपया

## अपनी ओर से

जैन-साहित्य का कथा-भाग बहुत ही समृद्ध एवं विशाल है। हजारों विषय पर हजारों ही प्रकार के कथानक, जीवन-चरित्र, घटनाएँ और रूपक ! आचार्यों ने प्रतिपाद्य विषय को सर्वसाधारण जनता के बोधगम्य बनाने के लिए विविध कथा चरित्रों का प्रणयन और सकलन करके जैन - साहित्य को ही नहीं, अपितु भारतीय-साहित्य को बहुत समृद्ध बनाया है।

जैन-कथा-साहित्य में मात्र मनोरंजक कहानियाँ, और कल्पित रूपकों का ही बाहुल्य नहीं है, किंतु ऐतिहासिक स्त्री पुरुषों के जीवन में घटित साहस, धैर्य, क्षमा, विवेक, त्याग आदि गुणों का अभिव्यंजन करने वाली हजारों यथार्थ घटनाएँ भी इतने रोचक और आकर्षक ढंग से लिखी हुई मिलती हैं कि उनसे जीवन - निर्माण की मौलिक प्रेरणाओं के साथ-साथ पाठक को बौद्धिक आनन्द भी प्राप्त होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में इसी प्रकार के कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं का संकलन किया गया है।

जैन-इतिहास के प्रसिद्ध साहस - पुरुष सुदर्शन का क्रूर मुद्गर-पाणि यक्ष एवं हत्यारे अर्जुन माली पर जादुई प्रभाव अहिंसा का महान् विजय का प्रतीक है। यक्ष और अर्जुन का

विष, सुदर्शन के अमृत के समक्ष परास्त हो गया। प्रस्तुत संग्रह में सर्वप्रथम उसी विष पर अमृत के विजय की कथा का संकलन हुआ है।

जीवन - दृष्टि, मन की लड़ाई, सामायिक का मूल्य, सदायन का पर्युषण, अधूरी जोड़ी, स्नेह के धागे आदि कथानक प्रायः इतने सुप्रसिद्ध हैं कि जैन - इतिहास और परम्परा से थोड़ा-बहुत परिचय रखने वाला जिज्ञासु भी उनमें परिचित होगा, किन्तु फिर भी उनकी रोचकता और सरसता कम नहीं हुई है, यही इन कथानकों की अपनी विशिष्टता है।

जीवन के भोग - विलास में आकण्ठ डूबे रहने वाले सामन्तों को मगध के महामात्य अभयकुमार द्वारा समझाया जाने वाला 'त्याग का मूल्य' और निरीह पशुओं के साथ खिलवाड़ करने वाले मृगया-रसिक तथा मांसलोलुप व्यक्तियों की आँखें खोलने वाला कथानक 'मांस का मूल्य' — पढ़ने में आनन्दप्रद होने के साथ ही प्रेरणादायी भी है।

इस संग्रह की कुल बारह प्रसिद्ध घटनाएँ, जिन्हें ऐतिहासिक महत्ता एवं रोचकता के कारण कथाएँ भी कह सकते हैं, पाठकों को इतिहास के माध्यम से जीवन की सुन्दर और शाश्वत प्रेरणा देती रहेंगी—इसी आशा के साथ...

२ मार्च १९७४

आगरा

—उपाध्याय अमरमुनि

जैन वाङ्मय में कथा - साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक गूढ़ रहस्यों को सहज भाव से जन - जीवन में उतारने के लिए कथा सर्वश्रेष्ठ माध्यम रहा है युग-युग से। भगवान महावीर, तथागत बुद्ध एवं अन्य महापुरुषों ने सर्व साधारण जनता को दार्शनिक शैली में नहीं, कथा-कहानी एवं रूपकों की सीधी-सादी शैली में ही गूढ़ रहस्यों को समझाया था। अस्तु, कथा - साहित्य एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक-विद्या है।

जैन-वाङ्मय में कथा-साहित्य का अक्षय भण्डार है। आगम, भाष्य, निर्युक्ति एवं संस्कृत-टीका ग्रन्थों में कथाओं की प्रचुरता है ही, उसके अतिरिक्त संस्कृत एवं प्राकृत में कथा - ग्रन्थ भी बहुत बड़ा संख्या में लिखे गये हैं।

परम श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज द्वारा लिखित प्रस्तुत कथा - ग्रन्थ जीवन - विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी की भाषा सरल एवं प्राञ्जल है और शैली सुन्दर एवं प्रवाहमय है। कथाएं रोचक तो है ही, साथ ही प्रेरणाप्रद भी हैं। कथाओं का रोचकता एवं आकर्षण के कारण ही स्वल्प समय में यह चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मुझे विश्वास है कि पाठक उपाध्यायश्रीजी के साहित्य से निरन्तर प्रेरणा एवं सम्यक्-दिशा-दर्शन प्राप्त करते रहेंगे।

वीरायतन

मुनि समदर्शी, प्रभाकर

२ अक्टूबर १९९३

‘जैन-इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ’ के रूप में जैन-साहित्य कथामाला का यह चतुर्थ भाग आपके हाथों में है।

जीवन-निर्माण के लिए सुन्दर-प्रेरणाप्रद कथा-साहित्य की उपयोगिता सुनिश्चित है। हम चाहते हैं कि इस प्रकार के प्रेरक साहित्य के माध्यम से हमारे बालक - बालिकाएँ, तथा युवक-युवतियाँ, अपने जीवन का निर्माण करें एवं इनसे प्रेरणा व उच्च संस्कार प्राप्त करें। यह तभी हो सकता है, जब यह साहित्य हर घर में, हर युवक और बालक के हाथ में पहुँचे। यह जिम्मेदारी जितनी हमारी साधु-संतों की है, जितनी साहित्य प्रकाशन संस्थानों की है, उतनी ही माता-पिताओं की भी है। अतः आवश्यक है, हम सभी अपने-अपने उत्तर-दायित्वों को समझ कर उनका उचित निर्वाह करें।

हमें प्रसन्नता है कि समाज में साहित्य पढ़ने की रुचि जागृत हो रही है, पाठक-वर्ग प्रबुद्ध हो रहा है और वह इस प्रकार के सुन्दर साहित्य का आदर कर रहा है।

श्रद्धेय उपाध्यायश्रीजी हमें जिस प्रकार का मौलिक, सुन्दर और निर्माणकारी साहित्य दे रहे हैं, यह हमारे सौभाग्य के साथ ही गौरव की भी बात है। उनकी अमूल्य साहित्यिक सेवाओं का ऋण समाज अपनी सांस्कृतिक समृद्धि से उतार सकेगा। हमें विश्वास है कि उनकी वाणी और लेखनी के अमूल्य प्रसाद से हमारी सांस्कृतिक समृद्धि निरन्तर बढ़ती ही रहेगी। इसी भावना के साथ....

मंत्री

—सन्मति ज्ञानपोठ

# जैन-इतिहास की प्रसिद्ध-कथाएँ



## अनुक्रम

१	अमृत जीता, विष हारा	१
२	जीवन - दृष्टि	६
३	सामायिक का मूल्य	१३
४	मन की लड़ाई	१८
५	बिना विचारे जो करे	२४
६	उदायन का 'पर्युषण'	२६
७	अधूरी जोड़ी	३७
८	स्नेह के धागे	४५
९	नाथ कौन	५५
१०	त्याग का मूल्य	६३
११	मांस का मूल्य	६७
१२	तेरहवाँ चक्रवर्ती	७४



भगवान् महावीर के युग की बात है । मगध जनपद की राजधानी राजगृह उस युग की सुन्दर, समृद्ध और प्रसिद्ध नगरी थी । उस राजगृह में अर्जुन नाम का एक माली रहता था । नगर के बाहर उसका एक सुन्दर तथा विशाल पुष्पाराम ( बगीचा ) था । उसमें चम्पा, चमेली, गुलाब, मोगरा आदि तरह- तरह के सुगन्धित फूल बारहों महीने खिले रहते थे । फूलों की भीनी - भीनी गन्ध से आसपास का वातावरण महकता रहता था । अर्जुन माली इसी पुष्पाराम से अपनी आजीविका चलाता था । पुष्पाराम के निकट ही एक यक्ष का आयतन (मंदिर) था । यक्ष अपने हाथ में सदा लोहे का एक बड़ा भारी मुद्गर धारण किये रहता था । इसलिए जनसाधारण में उसका नाम 'मुद्गरपाणि' प्रसिद्ध हो गया । अर्जुन माली बचपन से ही इस यक्ष को अपने कुल-देवता के रूप में मानता - पूजता आ रहा था । अतः नित्यप्रति सुन्दर-सुवासित फूलों से उसकी पूजा अर्चना करता रहता था ।

राजगृह में जहाँ अभयकुमार, सुदर्शन और पूणिषा श्रावक जैसे सदाचारी पुरुष रहते थे, वहाँ कुछ बदमाश और दुष्ट व्यक्तियों के दल भी स्वच्छन्द विचरण करते थे । उन्हीं

में छह दुष्ट युवकों की ललितागोष्ठी भी एक थी। एक दिन वह छह दुष्ट व्यक्तियों की टोली घूमती हुई अर्जुन माली के पुष्पाराम में पहुँच गई। वहाँ उन्होंने अर्जुन को अपनी पत्नी बन्धुमती के साथ फूल तोड़ते हुए देखा, तो बन्धुमती की सौन्दर्य - छटा पर वे पागल हो उठे। दुराचारी सुन्दर स्त्री को सामने देख कर अंधा हो जाता है। वह स्त्री के सौन्दर्य को किसी सुन्दर व मधुर फल की तरह निगल जाना चाहता है। वे यक्ष मंदिर में इधर - उधर चुपचाप घात लगाकर छिप गये। ज्यों ही अर्जुन माली यक्ष की पूजा के लिए मंदिर में आया और प्रणाम करने के लिए नीचे झुका कि बस, तुरन्त उन्होंने मिलकर अर्जुन को रस्सियों से बांध दिया और फिर उसी के सामने उसकी पत्नी के साथ दुराचार करने लगे।

अर्जुन का खून खौल उठा। भुजाएँ फड़कने लगीं। पर, वह गाढ़ बन्धन में इस प्रकार बंधा था कि मिट्टी के ढेले की तरह पड़ा अपनी आँखों से यह कुकृत्य देखता रहा, कुछ कर न सका। वह मनहीमन क्रुद्ध सर्प की तरह मसमसाने लगा। यक्ष की श्रद्धा के प्रति उनका अन्नहृदय विद्रोह कर उठा—  
 "यक्ष ! तेरी पूजा करते करते मेरी पीढ़ियाँ बीत गई ! मैंने अचल श्रद्धा के साथ आज तक तेरी पूजा की। पर मुझे पता नहीं था। कि तू सिर्फ एक पत्थर की मूर्ति के सिवा और कुछ भी नहीं है। यदि तुझ में कुछ भी शक्ति है, चमत्कार है, और तू वास्तव में ही यक्ष है, तो आज मेरा भक्त अपनी आँखों के

सामने अपनी यह दुर्दशा देख रहा है, तुझे इस पर शर्म आनी चाहिए। कुछ दिखा, अपना चमत्कार!” अर्जुन—भाववेश में हृदय की कसकती पीड़ा को अन्नर्जल्प के रूप में देवता के सामने खोलता चला गया। हृदय की गहराई से निकली हुई भाव-धारा में बल होता है, श्रद्धा में शक्ति होती है।

अर्जुन के हृदय में अपमान का दंश था। मन में तीव्र वेदना थी। मुद्गरपाणि यक्ष ने सचमुच उसकी पुकार सुनी। वह उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया। एक ही भटके के साथ उसके बन्धन चूर-चूर होकर बिखर गए। अब अर्जुन माली के हाथ में यक्ष का वह लौह मुद्गर भीम के गदा की तरह लहरा उठी और पलक भपकते ही वे छहों दुष्ट युवक एवं सातवीं दुराचारिणी बन्धुमती—सातों ही व्यक्ति, मुद्गर के भयंकर प्रहार से वहीं पर ढेर हो गए।

सातों प्राणियों की हत्या करके भी यक्षाविष्ट अर्जुन का क्रोध शान्त नहीं हुआ। क्रोधावेश में वह विक्षिप्त की तरह इधर-उधर भटकने लगा। इस तरह जो भी उसके सामने आया, बस, एक ही प्रहार में धराशायी हो गया।

इस घटना से उसके मन में इतना भयंकर क्रोध और वृणा जगी कि वह प्रतिदिन छह पुरुष एवं एक स्त्री की हत्या करके ही विश्रान्ति लेता।

हरा-भरा पुष्पोद्यान अब श्मशान-घाट बन गया। शहर में आतंक छा गया। मौत के मुंह में कौन जाए? लोगों का

आना-जाना बन्द हो गया। राजा श्रेणिक ने अनेक योद्धाओं को भेजा, पर अर्जुन माली की यक्ष शक्ति के सामने कोई नहीं टिक सका। जो भी उसके निकट आया, वह टुकड़े-टुकड़े हो गया। नगर में भय की भावना छा गई। सम्राट श्रेणिक के आदेश से सब-के-सब नगर-द्वार बंद कर दिये गए। जनता का नगर से बाहर आवागमन निषिद्ध हो गया। नगर के वन-उपवन सब वीरान जंगल हो गये। वहाँ अब साक्षात् मौत जो घूम रही थी।

भगवान् महावीर राजगृह के बाहर गुणशील उद्यान में पधारे। लोगों ने सुना, दर्शन करने की भावना उमड़ पड़ी। पर, बीच का यह भयानक मृत्यु-मार्ग कौन पार कर सकता था ? उस पार अवश्य ही अमर देवत्व के दर्शन हो सकते थे। पर, बीच में मृत्यु का राक्षस भी तो बैठा था। उससे कौन दो-दो हाथ करे ? सब ने घर बैठे ही भगवान् की भक्ति भाव से वन्दना कर ली।

परन्तु, एक युवक श्रावक भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए उसी दिशा में चल पड़ा। माता - पिता ने उसे बहुत समझाया, मित्र-परिजनों ने उसका मार्ग रोका। पर, उसका एक ही उत्तर था—“अभय को भय नहीं खा सकता। मैं अमृत के दर्शन करने जा रहा हूँ, मुझे मृत्यु के विष का कोई भय नहीं है।” सब उसके साहस, निष्ठा और विश्वास पर दंग थे। वह रुका नहीं, अकेला ही पैदल बढ़ता गया—

गुणशील उद्यान के सुनसान मार्ग पर। यह वीर श्रावक था श्रृंखली 'सुदर्शन' !

अर्जुन माली ने आज बहुत दिनों बाद एक मनुष्य को इस रास्ते आता देखा। वह हाथ में मुद्गर सँभाले लपक पड़ा सुदर्शन की ओर। सुदर्शन वीर योद्धा की तरह दृढ़ता के साथ वहीं खड़ा हो गया, न डर कर पीछे लौटा और न आगे दौड़ा। उसने शीघ्र ही संधारा के रूप में सागारिक-प्रतिमा<sup>१</sup> धारण की, और प्रशान्त एवं अविचल ध्यान - मुद्रा में स्थित हो गया।

सुदर्शन की तेजस्वी एवं निर्भय मुख - मुद्रा को देख कर अर्जुन के पैर ठिठक गए। प्रहार करने के लिए उसका मुद्गर ऊपर उठा अवश्य, पर वह वहीं अधर में उठा ही रह गया, नीचे नहीं आ सका। सुदर्शन की आत्मा - साहस और सुदृढ़ संकल्पों के सामने अर्जुन के शरीर में रहे यक्ष का तेज समाप्त हो गया। अहिंसा के समक्ष हिंसा परास्त हो गई। क्षमा के सामने क्रोध हार गया। अमृत जीता, विष हार गया। यक्ष देवता घबड़ाया और सहसा अर्जुन के शरीर से निकल कर

- 
१. किसी आकस्मिक संकट के समय जो 'संधारा' आहार रखकर किया जाता है, जैसे कि यदि इस संकट से बच गया, तो मुझे आहार आदि लेने की छूट है, अन्यथा यावज्जीव के लिए आहार - पानी का त्याग है।

कूच कर गया। अर्जुन घड़ाम से भूमि पर गिर पड़ा। उनके शरीर का सत्त्व जैसे निचोड़ लिया गया हो, वह एकदम मुस्त और शिथिल हो गया। क्रोध उसका शान्त हो गया। आज बहुत दिनों बाद उसमें विचार की एक लहर उठी — 'यह मनुष्य नहीं, देवता है! मौत के सामने जूझने आया और मौत को जीत लिया इसने! आज तक कोई मनुष्य मेरे सामने टिक नहीं सका। यह टिका भी, और शस्त्र के बिना ही अपने आत्मबल से दुर्दण्ड यक्ष-शक्ति को परास्त भी कर दिया। हो न हो, कोई महान् आत्मा है।' सुदर्शन अभी तक ध्यान में लीन था। अर्जुन माली भक्ति से गदगद हो कर उसके चरणों में गिर गया—देव! मुझे क्षमा कर दो! वास्तव में तुम कोई महान् शक्ति हो। मैंने जीवन-भर बहुत हत्याएँ की हैं, तुम्हारे जैसे देवपुरुष पर भी मेरे अन्दर का राक्षस उबल पड़ा था, किन्तु तुम्हारे अभय और क्षमा के सामने वह पराजित हो गया, मुझे क्षमा करो! बताओ, मैं इस जघन्य पाप से कैसे मुक्त हो सकूँगा! मैंने व्यर्थ ही पाशविक शक्ति के अहंकार के मद में निरपराध जनता के प्राण लूटे हैं।"

सुदर्शन ने ध्यान खोला, अर्जुन को चरणों में झुका हुआ देखा, तो प्रेम से ऊपर उठाते हुए बोला—"अर्जुन, उठो! तुम अब भी अपने जीवन को सुधार सकते हो। आसुरी-भाव को छोड़कर दैवी-भाव की ओर बढ़ो। चलो, भगवान् महावीर के

चरणों में। मैं भी वहीं जा रहा हूँ। वे करुणा के देवता, हमें कल्याण का मार्ग बताएँगे।”

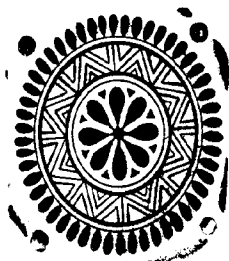
अर्जुन की आँखों में आशा की आभा चमक उठी। वह मुदर्शन के साथ भगवान् महावीर के दर्शन करने चल पड़ा।

लोगों ने देखा—मुदर्शन, अर्जुन जैसे नृशंस हत्यारे को साथ लिए, भगवान् महावीर की धर्म-सभा की ओर जा रहा है। पापी धर्मी बन जाता है, तब भी साधारण लोग उसे आशंका से देखते हैं। पहले तो लोगों के मन में अनेक आशंकाएँ उठीं, उन्हें यह यक्ष का छलावा लगा अतः बहुत देर तक कुतूहलबश देखते रहे। पर, देखा कि अर्जुन आज बहुत शान्त है, उसकी गर्वोद्धृत ग्रीवा विनय से आज नीचे झुकी हुई है, उसके दोनों हाथ प्रणाम-मुद्रा में जुड़े हुए हैं। बस, फिर क्या था ? नगर के सब द्वार खुल गए। राजगृह के सहस्रों नर-नारी अब निर्भय होकर प्रभु की धर्म देशना सुनने को एकत्र हो गए। प्रभु का उपदेश हुआ। अहिंसा और प्रेम की वह धारा बही कि अर्जुन माली का हृदय आप्लावित हो उठा। उसने प्रभु के समक्ष आत्म - निंदा की, और अहिंसा की सर्वव्रती साधना के लिए प्रव्रजित होने की प्रार्थना की। भगवान् महावीर ने अर्जुन का बदला हुआ हृदय देखा, पहले के दूषित जीवन के प्रति ग्लानि देखी और देखा कि क्षमा और अहिंसा का सुप्त देवता उसके भीतर जग रहा है।



अर्जुन प्रभु के चरणों में प्रव्रजित हो गया । उसने जीवन भर के लिए षष्ठोपवास ( दो दिन का उपवास, बेला ) का तपोव्रत ले लिया और आत्म - शुद्धि की साधना के महापथ पर अग्रसर हो गया । वह भिक्षा के लिए राजगृह में जाता तो कुछ लोग उसकी साधना पर अब भी शंकाकुल हो उठते । कुछ अपने बन्धु-बान्धवों का हत्यारा समझकर उसे पीटते, गालियाँ देते, तास देते । पर, मुनि अर्जुन उन कष्टों और प्रताड़नाओं को चुपचाप सहन कर जाते, लोगों के क्रोध एवं आक्रोश को पी जाते । क्रूर हत्यारा अर्जुन अब क्षमा का देवता बन गया था । समभाव की अचल साधना में स्थिर होकर अर्जुन मुनि अपने लक्ष्य की ओर बढ़े, तो बढ़ते ही चले गए । और, एक दिन केवल ज्ञान की अमर-ज्योति उनके अन्तर् में जल उठी । और, वे सदा-सर्वदा के लिए कर्म-बन्धन से मुक्त हो गए !

— अन्तकृद्दशा, ६।३



तीर्थंकर महावीर राजगृह के गुणशील उपवन के समवसरण में विराजमान थे । विशाल परिषद् में जहाँ सम्राट् श्रेणिक, महामंत्री अभयकुमार आदि अभिजात्य वर्ग के यशस्वी जन भगवान् महावीर के धर्म-देशना, धर्म - उपदेश सुन रहे थे, वहाँ एक ओर राजगृह का क्रूर 'कालशौकरिक' ( कसाई ) भी मन में कौतूहल लिये बैठा था । शान्ति और समता की उपदेश- धारा बह रही थी कि अचानक एक वृद्ध पुरुष जर्जर शरीर, कुष्ठ रोगी, फटे-पुराने चिथड़ों में लिपटा, लकड़ी के सहारे सभा को चीरता हुआ आगे आया । सम्राट् की ओर अभिमुख होकर बोला—'सम्राट्, जीते रहो !'

सबकी आँखें इस विचित्र बुढ़े पर गड़ गई । कैसा असभ्य और ढीठ है ? खुशामदी कहीं का । भगवान् को वन्दन न करके राजा को आशीर्वाद दे रहा है ?' तभी वृद्ध पुरुष ने भगवान् महावीर की ओर मुँह किया—“तुम मर जाओ ।”

अब तो सारी परिषद् के रोंगटे खड़े हो गए । सम्राट् की भाँहें भी तन गई । किन्तु, यह तो तीर्थंकर की धर्म-सभा है, राजा और रंक समान हैं यहाँ ! राजा को भी किसी को रोक-टोक करने का कोई अधिकार नहीं है यहाँ ।

वृद्ध ने बगल से बढ़कर महामंत्री अभय कुमार से कहा—  
 “महामंत्री ? तुम चाहे जीओ, चाहे मरो ।” अब तो सब के-  
 सब क्रोध-मिश्रित आश्चर्य से बुढ़े की ओर देखने लगे कि  
 यह क्या बकवास कर रहा है ? कभी कुछ कहता है, और  
 कभी कुछ । मालूम होता है — बुढ़े का दिमाग ठिकाने पर  
 नहीं है । इतने में ही वृद्ध ने काल - शौकरिक को सम्बोधित  
 किया—“भद्र ! तुम न मरो, न जीओ !”

सारी सभा स्तब्ध थी ! कौन है यह बुढ़ा ? क्या  
 पहेलियाँ-सी बुझा रहा है ! क्या मतलब है आखिर इस जीने  
 और मरने की बात का ? सब लोग परस्पर घुसुर-पुसुर कर  
 ही रहे थे कि बुढ़ा अचानक ही पलक झपकते गायब ?

सम्राट् ने प्रभु से निवेदन किया—“भन्ते ! यह विचित्र  
 व्यक्ति कौन था ? आपका अविनय और यह बकवास ! क्या  
 इसका कोई गूढ़ अर्थ है ? या, यों ही बुढ़ापे की मानसिक  
 दुर्बलता है यह !”

प्रभु ने धीर-गंभीर वाणी में कहा — ‘राजन् ! उसे  
 मनुष्य मत समझो, वह देव था । उसकी इन पहेलियों में  
 बकवास नहीं, जीवन का अमर सत्य छिपा है ।”

“प्रभु वह सत्य क्या है ? आप समझाएँ तो कुछ पता लगे ।”

“राजन् ! वृद्ध ने तुमसे कहा कि सम्राट् जीते रहो !”  
 इसका फलितार्थ है कि आज तुम्हारे सामने भौतिक ऐश्वर्य  
 का अम्बार लगा है । तुम्हें यहाँ भोग और सुख के सभी

साधन प्राप्त हैं। जितने दिन यह जीवन है, तुम्हारे फूलों की सेज है। किन्तु आगे क्या है? नरक है। जीवन में असीमित भोग दुःख के कारण होते हैं। अतः राजन्, तुम्हारे अगले जन्म में घोर दुःख के अन्ध-गर्त हैं। कांटे और शूल हैं। तुम्हारे लिए अभी जीना ही सुखकारी है, मरण नहीं।”

इस कटु सत्य ने सम्राट् का कलेजा हिला दिया, किन्तु धैर्य और उत्सुकता ने सहारा दिया। वह दो क्षण रुका और फिर अगले प्रश्न को दुहराया—“प्रभु! आप जैसे परम करुणावतार प्रभु को उसने मर जाने के लिए क्यों कहा?”

“राजन्! साधना के द्वारा अन्तर के राग-द्वेष रूप मल को धो लेने के बाद ही अर्हन्त बना जाता। परन्तु, अर्हन्त जीवन-शुद्धि की अन्तिम भूमिका नहीं है। मुक्त दशा ही आध्यात्मिक विकास का सर्वोत्कृष्ट शाश्वत रूप है। पूर्व-बद्ध कर्मों का भोग अभी चल रहा है, मैं अभी उससे मुक्त नहीं हो सका हूँ, अतः वह मेरे वर्तमान जीवन को देह का बन्धन मानता है, और मरण को मुक्ति। इसलिए उसने मुझे मर जाने को कहा। इसका मर्म है—आप सदा के लिए बन्धन से मुक्त हो जाओ।”

दो प्रश्नों का समाधान हुआ। जिज्ञासा तीसरे प्रश्न की ओर बढ़ी। प्रभु ने पहली को खोलते हुए बताया—“अभयकुमार के जीवन में भोग भी है, त्याग भी है। उसकी जीवन-दृष्टि स्पष्ट है। फूलों से रस लेनेवाले भ्रमर की तरह

वह जीवन का रस लेते हुए भी उसमें डूबते नहीं है । वह जो भी कर रहा है, कर्तव्य - भाव से कर रहा है । इसलिए उसका यह वर्तमान जीवन भी सुखी है—भय और शक्ति से दूर ! तथा अगला जीवन भी दिव्य एवं श्रेष्ठ है । यहाँ भी सुखी, आगे भी सुखी । इसलिए अभयकुमार के लिए देव ने कहा कि चाहे जीओ, चाहे मरो ।”

सम्राट् को मन-ही-मन अपने जीवन पर ग्लानि होने लगी, और अभय की जीवन - दृष्टि के प्रति धन्यता, शुद्ध स्पर्धा ! किन्तु, अभी अन्तिम प्रश्न बाकी था । सम्राट् ने उसे समझने को भी प्रश्न किया । प्रभु ने बताया—‘न मरो और न जीओ ?’ इसका अर्थ तो बहुत ही स्पष्ट है । काल शौकरिक का वर्तमान जीवन तो दुःख, दारिद्र्य और घृणा से भरा है, साथ ही हिंसा और क्रूरता का महापापी भी है । ऐसी स्थिति में अगले जीवन में भी सुख-शान्ति और प्रकाश की आशा कैसे की जा सकती है ? अस्तु, यह जीता है तो पाप करता है, और यदि मरता है तो नरक में जाता है । अस्तु उसका न मरना अच्छा है, और न जीना ।”

महाराज श्रेणिक श्रद्धावन्त हो गए । उन्होंने जो समझा, प्रभु महावीर के समक्ष निवेदन किया—“प्रभु ! इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि जो विवेक की दृष्टि खुली रखकर जीता है, उसके दोनों जन्म सुखमय होते हैं ।” प्रभु ने कहा—“हाँ राजन् ! वस्तुतः यही सच्ची जीवन-दृष्टि है ।” ★

भगवान महावीर के श्रीमुख से जब सम्राट् श्रेणिक ने यह सुना—“तुम्हें नरक में जाना पड़ेगा” तो भक्तहृदय सम्राट् सहसा काँप - काँप उठे। “प्रभो ! मैं आपका भक्त ! और नरक जाऊँगा ! क्या मेरी भक्ति का कोई मूल्य नहीं ? उसमें कोई सचाई नहीं ?”—श्रेणिक ने दीनभाव से प्रभु-चरणों में निवेदन किया।

भगवान ने समझाया—“श्रेणिक ! श्रद्धा और भक्ति के बल पर नरक से त्राण पाना तो क्या चीज है, स्वर्ग के सिंहासन भी इनको शक्ति के सामने असंभव नहीं हैं। किन्तु, भक्त बनने से पहले किये गए अपने उग्र असत्कर्मों का फल - भोग तो करना ही पड़ता है न !”

सम्राट् श्रेणिक के मन में उथल-पुथल मच गई। नरक की कल्पना उनके मन - मस्तिष्क को बुरी तरह मथने लगी। नरक से त्राण पाने के लिए वे सब-कुछ करने के लिए उद्यत हो गए। वे सोचने लगे—“यह विशाल साम्राज्य ! यह अक्षय कोष ! क्या नरक से नहीं बचा सकते ?”

“प्रभो ! किसी भी तरह मैं नरक से बच सकूँ, वह मार्ग जानना चाहता हूँ। उद्धार करो, प्रभो ! सुभ्र दिन पर कृपा करो। मैं अपना विशाल साम्राज्य और समस्त राज्य-

कोष लुटा सकता हूँ, मुझे नरक से मुक्त होने का उपाय बतलाइए, भगवन् !”

भगवान् महावीर के सर्वग्राही ज्ञान में झलक रहा था—  
“सम्राट् के अन्तर् में रमा हुआ साम्राज्य और कोष का दर्प !” साम्राज्य और कोष लुटा दूँगा—‘यह भी एक गर्व है। और जहाँ गर्व है, वहाँ बन्धन ही है, मुक्ति कैसी ?

श्रेणिक का धैर्य अपनी सीमाएँ तोड़ रहा था—“प्रभो ! कृपा कीजिए, नरक से मुक्त होने का मार्ग बतलाइए।’

प्रभु की गम्भीर वाणी मुखरित हुई—“श्रेणिक ! तुम्हारे उद्धार का एक उपाय हो सकता है। यदि पूणिया श्रावक ( पुण्य श्रावक ) की एक सामायिक का फल तुम्हें प्राप्त हो जाय, तो तुम्हारी नरक टल सकती है।”

श्रेणिक का हृदय बाँसों उछलने लगा—‘एक सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है ? हजार नहीं, तो लाख, नहीं तो करोड़ स्वर्ण मुद्रा ! और क्या ? बस, यह तो बहुत सहज उपाय है।’

पूणिया श्रावक के पास स्वयं पहुँचे महाराज, और बड़ी कातरता से कहने लगे—“श्रावक श्रेष्ठ ! मैं एक इच्छा लेकर तुम्हारे द्वार पर आया हूँ। जो माँगोगे, वही मूल्य दूँगा, मुझे निराश मत लौटाना।”

“महाराज ! कहिए न, मेरे - जैसे साधारण गृहस्थ के यहाँ ऐसी कौन-सी दुर्लभ वस्तु है, जिसकी आप-जैसे महान्

सम्राट् को आवश्यकता पड़ी है ? और वह भी इतनी बड़ी आवश्यकता कि स्वयं महाराज पधारे ! सम्राट् ! मुझे लज्जित न कीजिए, आपके लिए मेरा सर्वस्व प्रस्तुत है ।”

”श्रावक ! वस्तु, नहीं, तुम्हारी एक सामायिक चाहिए, सिर्फ एक सामायिक ! बोलो, किस मूल्य पर दे सकते हो ?”

”महाराज, सामायिक ?”—पूणिया श्रावक सम्राट् के मुख की ओर आश्चर्य से देखने लगा ।

”हां, श्रावक ! सामायिक ! प्रभु ने कहा है—तुम्हारी एक सामायिक से मेरा नरक टल सकता है । बोलो, तुम्हें, क्या मूल्य चाहिए ? संकोच न करो, मैं पूरा मूल्य चुकाऊंगा ।”

पूणिया श्रावक ने गंभीर हो कर कहा—”महाराज ! मेरे लिए यह बिल्कुल नयी बात है । मैं सामायिक का मूल्य क्या बताऊं ? जिसने लेने के लिए कहा है, वही उसका मूल्य भी बता सकता है । आप प्रभु से ही पूछिये कि एक सामायिक का मूल्य क्या हो सकता है ।”

दूसरे दिन सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही अत्यन्त भावविह्वल मुद्रा में उत्सुक महाराज श्रेणिक प्रभु के चरणों में उपस्थित हुए । प्रार्थना की — “प्रभु ! पूणिया श्रावक सामायिक देने को तैयार है । कृपया, यह बतलाइए कि एक सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है ? मैं अपना समस्त राज्य-कोष दे सकता हूँ । कुछ भी मूल्य हो, मुझे एक सामायिक अवश्य ही लेनी है ।”



प्रभु ने देखा—“सम्राट् का राजस्-अहंकार और अधिक उदीप्त हो रहा है। वह भौतिक वैभव के द्वारा आध्यात्मिक समाधान चाहता है।”

प्रभु ने कहा—“सम्राट् ! सामायिक की भौतिक सम्पत्ति के साथ क्या तुलना ? यदि भूतल से चन्द्र-लोक तक स्वर्ण, मणि एवं रत्नों का अंबर लगा दिया जाय, तब भी सामायिक का मूल्य तो क्या, सामायिक की दलाली भी पूरी नहीं हो सकती।”

भगवान् ने समाधान की दिशा में एक और स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया—‘राजन् ! जीवन के अन्तिम क्षण में मृत्यु के द्वार पर पहुँचे हुए किसी प्राणी को क्या कोटी स्वर्ण मुद्रा या मणि-मुक्ता देकर बचाया जा सकता है ?”

“भगवान् ! यह तो असम्भव है !”

‘तो सम्राट् ! जीवन का मूल्य कितना महान् है ? कोटी-कोटी स्वर्ण एवं मणि-मुक्ता के मूल्य से भी जीवन का एक क्षण प्राप्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में, जबकि सामायिक का साधक अनन्त-अनन्त प्राणियों को जीवन के लिए अभय अर्पण करता है, तो सामायिक का मोल, मोल से परे अनमोल की कोटी पर पहुँच गया न ! राजन् ! सामायिक तो समता का नाम है। राग-द्वेष की विषमता को चिन्ता से दूर करना और साधारण संसारी जन से राग-द्वेष का विजेता जिन बनना, यही सामायिक का आध्यात्मिक अनन्त मूल्य है। उसे पाने

के लिए अपने मन में अहंकार और विकार को साफ करना पड़ता है। सामायिक को वही प्राप्त कर सकता है, जिसका मन निर्मल हो, समत्व में स्थित हो, भौतिक आकांक्षाओं से रहित हो। सामायिक बाहर में किसी से लेने की चीज नहीं है, वह तो स्वयं अपने अन्दर में से ही पा लेने जैसी शुद्ध स्थिति है। पूणिया श्रावक की सामायिक से मेरा अभिप्राय उससे सामायिक खरीदने या मांगने से नहीं था। मेरा अभिप्राय था कि पूणिया - जैसी - शुद्ध निष्काम सामायिक होनी चाहिए। न उसमें इस लोक की कोई कामना हो और न परलोक की !”

महाराज श्रेणिक सुनते ही चकित रह गए। भौतिक धन के द्वारा सामायिक खरीदने का 'अहं' चूर-चूर हो गया और अब उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि “बन्धन-मुक्ति के लिए समत्व में स्थिर होने पर ही सामायिक की उपलब्धि हो सकती है।”

—श्रेणिक चरित्र ढाल ५६ (त्रिलोक ऋषिजी)



एक बार श्रमण भगवान् महावीर को नमस्कार करके मगधनरेश श्रेणिक ने प्रश्न किया,—“भगवान् ! आज आप के दर्शन करने के लिए आते समय मार्ग में एक महान् तपस्वी के दर्शन हुए । बड़ी उग्र साधना कर रहे थे ! सूर्य की ओर भुजाएँ ऊँची फैलाए मेरु की तरह स्थिर, अचल, कायोत्सर्ग मुद्रा, ध्यान में लीन, नासाग्र दृष्टि ! मुखचन्द्र पर अद्भुत समता और अपार शान्ति झलक रही थी । कितना महान् होगा, उनका तपश्चरण ! वह उग्र तपस्वी किस उत्तम गति को प्राप्त करेंगे ?”

“राजन् ! जिस तपस्वी मुनि को तुमने देखा है, वह यदि अभी, इसी क्षण मरण करे, तो सातवीं नरक भूमि को प्राप्त कर सकता है ।”

‘इतनी उग्र तपः साधना और सातवाँ नरक ! जिसका रोम-रोम शान्ति और साधना में लीन है, वह साधक मरकर सातवीं नरक-भूमि में जाएगा !’ श्रेणिक को अपने कानों पर विश्वास नहीं आ रहा था । “प्रभु ! मैं यह क्या सुन रहा हूँ । मेरे देखने में और आपके कहने में बड़ी विचित्र विसंगति है । बहुत-कुछ सोचने पर भी संगति बैठ नहीं रही है !”

“राजन् ! तुम ठीक ही सुन रहे हो ! इसमें विसंगति जैसा कुछ नहीं है । यदि वह इस समय काल-धर्म को प्राप्त हो, तो छट्टी नरक-भूमि में जा सकता है !”

‘यह कैसे ? सातवीं से छट्टी नरक भूमि ?’

“हाँ, राजन् ! अभी पाँचवीं नरक-भूमि के योग्य उसके कर्म-बन्ध हो रहे हैं !”

श्रेणिक इस अनवूझ पहेली में उलझ गया ! विचित्र कुतूहल और अद्भुत आश्चर्य ! प्रभु से पुनः पूछने लगा—  
“प्रभु ! अब —?”

“अब उसके कर्म चौथी नरक-भूमि के योग्य है ।”

प्रश्नोत्तर की श्रृंखला आगे बढ़ती रही और कुछ ही क्षणों में तीसरी, दूसरी और प्रथम नरक - भूमि तक पहुँचते-पहुँचते, अब गति ऊपर की ओर बढ़ने लगी ।

इस आश्चर्यकारक उतार-चढ़ाव पर श्रेणिक का मन विस्मय विमग्न हो उठा था । फल-स्वरूप उसकी जिज्ञासा मुखरित होती गई—“प्रभु ! अब ?” और भगवान् की समाधान परक दिव्य-दृष्टि पापकर्मों के प्रति होने वाले उस आन्तरिक अभियान के सम्बन्ध में क्षण-क्षण की सूचना दे रही थी, उस महान् अभियान की उत्तरोत्तर शक्तिशाली चढ़ाई का हाल सुना रही थी—“श्रेणिक ! अब वह साधक देवभूमि तक पहुँच गया है । यदि इसी क्षण उसकी मृत्यु हो जाए, तो वह सौधर्म कल्प का समृद्धिशाली देव बन सकता है । उसका अभियान

आगे बढ़ रहा है, लो, वह और ऊँचाई पर पहुँच गया। ब्रह्म-कल्प से भी आगे और आगे ही आगे .... भूमिकाएँ क्षण-क्षण बदल रही हैं।” एक ओर साधक का अन्दर-ही-अन्दर पवित्र भावनात्मक आरोहण चालू है, और दूसरी ओर उसी के साथ-साथ श्रेणिक का प्रश्न, प्रभु का उत्तर।

“प्रभु ! अब उस साधक की क्या स्थिति है ?” —श्रेणिक ने प्रश्न किया।

“अब वह कल्प और ग्रैवेयक देवलोक की भूमिका से भी ऊपर चला गया है। ....और अब वह सर्वार्थसिद्धि की भूमिका पर पहुँच चुका है।”....प्रभु का उत्तर पूरा होते-होते तो आकाश में देवदुन्दुभि बज उठी। देव-देवियों के वृन्द-पर-वृन्द पुष्प-वर्षा करते हुए पृथ्वी पर उतरे आ रहे थे, वीतराग प्रसन्नचन्द्र केवली की जय-जयकार बोल रहे थे। श्रेणिक ने यह सब देखा, तो चकित और भ्रमित !....”प्रभु ! यह क्या हो रहा है ? कहाँ नरक, कहाँ स्वर्ग और अब कहाँ केवलज्ञान कुछ ताल-मेल बैठ ही नहीं रहा है इसमें ?”

“राजन् ! वह मनोभूमि पर लड़े जा रहे विकल्प-युद्ध में विजय पा चुका है, उसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। और यह सब कैवल्य महोत्सव का उपक्रम किया जा रहा है।”

“प्रभु ! इस रहस्यमयी भाषा को मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, कि कुछ क्षण पहले जो साधक सातवीं नरकभूमि में जाने योग्य कर्म कर रहा था, वह कुछ ही क्षणों में ऊपर उठा,

और ऐसा उठा कि वीतराग-सर्वज्ञ हो गया, आपके समान बन गया। यह सब कैसे हुआ ? क्या रहस्य है इसका ! यह आपका भक्त और समूची परिषद् जिज्ञासु नजरों से सत्य को टोह रही है, कृपया उसे स्पष्ट करके दिखाते का अनुग्रह करें?"

"राजन् ! जिस समय तुम उस साधक को वन्दना करके वहाँ आ रहे थे, वस, तभी उसको मनोभूमि में एक भयंकर युद्ध छिड़ गया !"

"कैसा युद्ध किसके साथ युद्ध ?"

प्रभु ने मानव मन की आन्तरिक भूमिका का चित्र स्पष्ट करते हुए कहा—"राजन् ! वह साधक और कोई नहीं, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि है। जब वह ध्यानावस्था में लीन खड़े थे, तो राजर्षि के कानों में परस्पर बात करते हुए दो सैनिकों की ध्वनि टकराई कि "देखो, इस प्रसन्नचन्द्र राजा ने अपने अल्पवयस्क पुत्र के असमर्थ कन्धों पर राज्य-भार डाल कर दिक्षा ग्रहण कर ली। अब पीछे से शत्रु राजा ने बालक राजा को कमजोर एवं दुर्बल समझ कर राज्य पर आक्रमण कर दिया है, भयंकर युद्ध छिड़ गया है, शत्रु सेनाएँ आगे बढ़ चुकी हैं। राजधानी सब ओर से घिर चुकी है। वस, कुछ ही समय में प्रसन्नचन्द्र राजा का पुत्र युद्ध-भूमि से उलटे पाँव भाग छूटेगा या वह वहीं समाप्त हो जाएगा। प्रसन्नचन्द्र के परंपरागत राज्य और कुल का सर्वनाश अब निकट है।" वस, इतना सुनना था कि ध्यानावस्था में खड़े प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का

मन विचलित हो गया । वह वीतराग भूमिका से हटकर राग-द्वेष की भूमिका की ओर दौड़ पड़ा । मन-ही-मन घोर युद्ध शुरु हो गया । बाहर में उसकी देह तब भी ध्यानस्थ थी, किन्तु अन्तर्मन कल्पित शत्रुओं के साथ द्वन्द्व युद्ध में संलग्न था— शत्रुओं के खून में नहा रहा था । युद्ध और वैर के भाव बढ़े और इतने क्रूर रूप में बढ़े कि जब तुमने प्रश्न किया तब वह साधक नहीं, एक भयंकर योद्धा के रूप में विचारों ही-विचारों में वह शत्रु के लिए महाकाल बन रहा था, क्रूरता और वैर की सर्वोपरि स्थिति में उस समय वह सातवीं नरक भूमि के योग्य कर्म-दलिक का बन्ध कर रहा था । अतः उस स्थिति में यदि उसकी मृत्यु हो जाती, तो वह मर कर सातवीं नरक-भूमि में ही जाता ।”

मनोभावों के इस गम्भीर और आश्चर्यजनक विश्लेषण पर समवसरण सभा स्तब्ध थी । प्रभु ने विश्लेषण सूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा —

“राजन्, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर में तो साधु थे, किन्तु अन्तर में थे एक वीर क्षत्रिय योद्धा । मन में युद्ध होता रहा ! होता रहा !! सब शस्त्र निःशेष हो गए, फिर भी एक शत्रु सामने खड़ा था । उस पर प्रहार करने के लिए जब कोई अन्य शस्त्र नहीं देखा, तो सिर के वज्र-मुकुट से ही उसको मार डालने का विचार किया । और ज्यों ही हाथ सिर पर पहुँचा, तो कहाँ मुकुट ? वहाँ तो सफाचट था लुं चि मस्तक

उसका मनोवेग टकराया—'अरे ! मैं तो मुकुटधारी राजा नहीं, एक नग्न सिर वाला साधु हूँ । कहाँ भटक गया मैं ? कौन है मेरा शत्रु ? किससे कर रहा हूँ युद्ध ?' मन का कुरु-क्षेत्र अब फिर धर्मक्षेत्र में बदलने लगा, भावधारा मुड़ गई । युद्ध चालू रहा, पर शत्रु बदल गये । अब दूसरों से नहीं, अपने से ही युद्ध शुरू हुआ और विकारों एवं वासनाओं का संहार होने लगा । ज्यों-ज्यों तुम्हारा प्रश्न आगे बढ़ रहा था, त्यों-त्यों उसके भाव-चरण आध्यात्मिक विजय की ओर बढ़ रहे थे । छट्ठे और पाँचवें नरकों से छलाँग लगाता - लगाता वह कुछ ही क्षणों में स्वर्ग की सीढ़ियों को पार कर गया । विशुद्ध भावधारा के प्रवाह में अन्तर् का कलुष धुल-धुल कर बहता गया, अन्धकार हटता गया प्रकाश जगमगाता गया. और वह भटका हुआ साधक ज्योंही साधना की सिद्धि के द्वार पर पहुँचा, तो केवली हो गया !”

मनोभावों के इस विचित्र नाटक पर सम्राट् श्रेणिक गम्भीर होकर सोचते रहे — ”यह मन कितना विचित्र है ! ये संकल्प कितने बलवान होते हैं ? जब असत्य की ओर मुड़े, अधोमुखी बने, तो सातवें नरक तक पहुँच गए । और जब फिर संभलकर सत्य की ओर बढ़े ऊर्ध्वमुखी बने, तो बस साधक से सिद्ध हो गये, मुक्ति का द्वार खुल गया ।”

महाराज ने गद्-गद् हृदय से श्रद्धावनत होकर प्रभुचरणों में वन्दना की ।

—त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र १०/६

★



श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-देशना श्रवण कर सम्राट् श्रेणिक और महारानी चेलना राजमहल को लौट रहे थे। नदी के तट पर कड़ाके की सर्दियों में एक तपस्वी मुनि को ध्यान-मुद्रा में खड़े देखा, तो महाराज और महारानी ने श्रद्धा प्रधान भाव से नमस्कार किया। सर्द हवा के झोंके कलेजा चीर रहे थे, हाथ-पाँव ठिठुरे जा रहे थे। बहुमूल्य ऊनी वस्त्रों में लिपटी हुई भी रानी की देह मालती लता की तरह थर-थर काँप रही थी। और, इस भयंकर सर्दी में भी वह नग्नदेह तपस्वी मुनि शैल-शिखर की तरह ध्यान में अचल खड़ा था। तपस्वी को घन-घन करते हुए रानी चेलना का रथ महलों की ओर बढ़ गया। रानी के स्मृति-पट पर शीत से जूझते हुए तपस्वी का वह भव्य साधना-चित्र बार-बार उभर आता और वह भावविह्वल होकर प्रणाम - मुद्रा में सहसा धन्य - धन्य कह उठती।

पौष महीने की भयानक शीत रात्रि में रानी चेलना उपरा उपरी अनेक कम्बलों से शरीर को सब तरह से ढँके हुए शयन-कक्ष में सो रही थी। नींद में उसका एक हाथ कम्बल से बाहर खुला हो गया। कुछ देर बाद रानी की नींद खुली तो देखा कि ठंड के कारण हाथ अकड़ गया है। रानी सीत्कार कर उठी—“अहो ! कितनी भयंकर सर्दी है !” और,

फिर नदी के किनारे खड़े उस तपोधन मुनि की कल्पना स्मृति-पट पर सहसा उतर आई। रानी के मुँह से भावावेश में निकल पड़ा—“अहो, इस समय उनका क्या हाल होगा?”,

सम्राट् श्रेणिक अर्धनिद्रित - से करवट बदल रहे थे। चेलना के ये शब्द— “उनका क्या हाल होगा !” सम्राट् के हृदय में अटक गए। “जरूर यह किसी अन्य पुरुष से प्रेम कर रही है। नींद में भी उसी के बारे में इसका चिन्तन चल रहा है। जो बात जागते हुए मुँह से नहीं निकलती, वह कभी-कभी नींद की बेहोशी में सहजतया निकल जाती है।” रानी के दुश्चरित्र होने के बारे में सम्राट् का मन एकाएक संदिग्ध हो उठा। सोचा—“जब मेरी प्राणप्रिया राजमहिषी का भी यह हाल है, तो अन्य रानियों के चरित्र के सम्बन्ध में मैं क्या विश्वास करूँ ? स्त्री का चरित्र बड़ा विलक्षण होता है। उसके सतीत्व के बारे में कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।” बस दुष्कल्पनाओं में सम्राट् का मन संशयाकुल हो गया, नींद हराम हो गई।

सम्राट् प्रातः होते ही राजमहल से नीचे आये। मन में भारी उथल-पुथल मची थी, चेहरा क्रोध से तमतमा रहा था। विवेक पर वहम का काला पर्दा ऐसा गिरा कि कुछ भी सोच नहीं सके। महामंत्री अभयकुमार को सम्राट् ने बुला कर कहा—“अभय ! रानियों-सहित समूचित अन्तःपुर को अभी का-अभी जला डालो। तुरन्त मेरे आदेश का पालन होना

चाहिए।” आदेश देकर सम्राट् धमधमाते हुए आगे बढ़ गए।

अभयकुमार बुद्धिमान था। वह सम्राट् के क्रोध को समझता था। क्रोध में मनुष्य विवेक खो बैठता है। अविवेक से किया गया कार्य आखिर में दुःखदायी होता है। उसने राज-महल के पास में खड़े गजशाला के घास-फूस के झोंपड़े खाली करवाये और उनकी होली जला डाली। सम्राट् के आदेश का पालन भी हुआ और भयंकर दुर्घटना भी होते-होते बच गई।

आदेश देकर सम्राट् नगर में बाहर चले गये थे। इधर-उधर वन-प्रदेश में घूमते रहे। परन्तु, उनके मन में वह वहम बार-बार तीखे काँटे की तरह खटक रहा था। उन्हें शान्ति नहीं मिल रही थी। आखिर समाधान के लिए श्रमण भगवान् महावीर की धर्म-सभा में पहुँचे। चरण-वन्दना की और सांकेतिक शब्दों में पूछा—“प्रभो ! वैशाली गणराज्य के स्वामी चेटक की पुत्री के एक-पति है या अनेक-पति ?”

प्रभु महावीर ने कहा—“राजन् ! चेटक की एक पुत्री क्या सातों ही पुत्रियाँ एक-पति है। सती-साध्वी हैं। तुम्हारे अन्तःपुर की समस्त रानियाँ पवित्र तथा पतिव्रत्य धर्म का पालन करने वाली हैं।”

सम्राट् प्रभु की वाणी सुनते ही दिङ्मूढ़-से देखते रह गए। प्रभु महावीर ने सम्राट् के मन का संदेह मिटाते हुए कहा—

‘राजन् ! कल तुमने चेलना के साथ नदी के तीर पर तप-  
स्या करते हुए किसी मुनि के दर्शन किये थे !’

“हाँ, प्रभु किये थे”—श्रेणिक ने कहा ।

“रात्रि में जब रानी का एक हाथ कम्बल से बाहर रह गया और वह सर्दों के कारण ठिठुर कर अकड़ गया, तो उसकी पीड़ा को अनुभव करती हुई रानी ने अपनी स्थिति से उम मुनि की स्थिति की तुलना की और तब एकाएक उसके मुँह से निकल पड़ा —‘इस सर्दों में उनका क्या हाल होगा ?’ राजन् उसकी यह उक्ति किसी अन्य पुरुष के लिए नहीं थी”—भगवान् ने घटना का मर्म खोला ।

सम्राट के क्रोध पर सहसा घड़ों पानी गिर पड़ा । मेरे आ-  
देश मे कहीं भयंकर अनर्थ न हो गया हो, इसी आकुलता से  
वे बिना और कुछ पूछे, सहसा राजमहलों की ओर दौड़ पड़े।  
ज्योंही राजमहलों के स्थल से आग की गगनचुम्बिनी ज्वा-  
लाओं को देखा, तो उनका चेहरा फक हो गया । यह क्या ?  
अरे ! सर्वनाश हो गया । स्त्री-हत्या, वह भी निरपराध !  
पाप ! महापाप !

अभयकुमार मार्ग में ही सम्राट् को मिल गया । सम्राट् ने  
कहा—“अभय ! तू भी आज मूर्ख हो गया ? अनर्थ कर डाला  
तूने ? कितना भयंकर पाप ? अबलाओं को जीवित अग्निदाह  
मूर्ख, चला जा मेरी आँखों के सामने से ।”

अभयकुमार को चले जाने का आदेश क्या मिला, अभीष्ट ही मिल गया। वह तो इसी आदेश की प्रतीक्षा में था। क्योंकि वह दीक्षा लेना चाहता था और सम्राट् रोकते थे। अब वह चल पड़ा वहाँ जहाँ इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण आदेश न मिलते हों। प्रभु महावीर के चरणों में पहुँच कर अभयकुमार मुनि बन गया।

राजमहलों के पास पहुँच कर सम्राट् को जब सही स्थिति मालूम हुई तो अभय की बुद्धिमानी पर बाग-बाग हो गये। और, साथ ही लज्जित हो उठे अपनी मूर्खता पर। निष्कारण इतना भयंकर वहम ! इतना उतावलापन ! और, इतना अविवेक !! उनके अविवेक से यदि सचमुच ही दुर्घटना हो जाती, तो कितना अनर्थ हो जाता ? इसकी कल्पना से ही सम्राट् का हृदय दहल उठा। उन्हें अपनी भूल पर पश्चात्ताप होने लगा। 'उतावला सो बावला' की लोकोक्ति रह-रह कर उनकी स्मृति में टकराने लगी।

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०।६



“महाराज, गजब हो गया ! अवन्तीपति चन्द्रप्रद्योत अपने सुप्रसिद्ध 'अनलगिरि' हाथी पर चढ़कर एक चोर की तरह वीतभयपत्तन में घुसा और कुब्जा दासी को चुरा कर भाग गया ।” प्रातः उठते ही राजर्षि उदायन को प्रतिहार ने अशुभ समाचार सुनाए ।

.....“अच्छा, अवन्तीपति का यह साहस ! हमारी दासी को चुराकर ले गया ।” सिन्धु-सौवीर के सम्राट् उदायन के स्वर में उपहास-मिश्रित रोष झलक रहा था ।

“नहीं, महाराज ! सिर्फ दासी को ही नहीं, किन्तु स्वर्गीय महारानी की आराध्य देवप्रतिमा को भी चुराकर ले गया ।” प्रतिहार ने पुनः निवेदन किया ।

राजा के भुजदण्ड फड़क उठे— “यह हिम्मत कामी चन्द्र-प्रद्योत की ? उदायन युद्ध से घृणा अवश्य करता है, किन्तु डरता नहीं है । दुष्ट को दुष्टता का दण्ड मिलना ही चाहिए ।”

उदायन ने सेनापति को अवन्ती पर आक्रमण के लिए तैयार हो जाने का आदेश देकर दूत के हाथ चन्द्रप्रद्योत को संदेश भेजा—“वीतभय की चुराई हुई दासी और देव-प्रतिमा या तो लौटा दो, अन्यथा उन दोनों के साथ अपने प्राण भी देने को तैयार हो जाओ ।”

महा अभिमानी चन्द्रप्रद्योत ने ली हुई वस्तु लौटाना सीखा ही नहीं था । फिर स्वर्णगुलिका दासी तो अपनी स्वयं की इच्छा से उसके साथ आई थी । उसी ने संकेत करके चन्द्र-प्रद्योत का अपने सौन्दर्य-दीपक का पतंगा बनाया था । कुबड़ी और कुरूप दासी को एकाएक अयाचित सौन्दर्य प्राप्त हो गया, जब कि गान्धार देश से आए हुए एक सद्गृहस्थ ने उसकी सेवा पर प्रसन्न होकर 'स्वर्ण-गुलिका' नामक एक जादूभरी गुटिका (गोली) दी थी, जिसे खाते ही कुबजा की कुरूप वह सुन्दरता के अपार लावण्य से स्वर्णलता की तरह चमक उठी । स्वर्गलोक की अप्सरा-सा सौन्दर्य जगमगाने लगा, और उसका अंग-अंग अनोखी आभा से निखर उठा । अन्धे को क्या चाहिए, दो आँख । दासी के इस अद्भुत सौन्दर्य पर लोग उसे अब 'कृष्ण-गुलिका' की जगह 'स्वर्ण-गुलिका' कह कर पुकारने लगे । दासी अपने सौन्दर्य पर इठलाने लगी । किन्तु, उस सौन्दर्य का मूल्य उदायन जैसे चरित्रनिष्ठ राजा से पाना असम्भव था । और दूसरा कोई रूप का दीवाना पतंगा उदायन के देवमन्दिर को पुजारिन दासी के सौन्दर्य की लौ पर निछावर हो जाए, यह साहस भी किसमें था ! बड़े-बड़े राजकुमार, सेनापति और सम्राट् उदायन के नाम से काँपते थे । कुबजा को हाथ लगाने के दुस्साहस का अर्थ मौत से खेलना था । दासी इस बात को अच्छी प्रकार समझ रही थी, इसीलिए चन्द्रप्रद्योत उसकी पैनी निगाहों में समा

रहा था। वह पराक्रमी भी था। अपने प्रचण्ड बाहुबल एवं सैन्यबल के कारण वह चन्द्रप्रद्योत से ‘चन्द्रप्रद्योत’ के नाम से विश्वविश्रुत हो गया था। वह समय आने पर वीतभय के साथ ईट - से - ईट बजाने का सामर्थ्य भी रखता था और साथ ही सौन्दर्य का प्यासा भी। कर्ण परंपरा से सुने गए दासी के अद्भुत रूप लावण्य पर उनकी गीघ-दृष्टि कुछ समय से थी ही और जब दासी की ओर से संकेत मिला तो वह बांसों उछल पड़ा। अनलगिरि नामक अजेय गन्धहस्ती पर चढ़कर रात्रि के समय वह वीतभय पत्तन में आया और स्वर्ण-गुलिका दासी एवं देव प्रतिमा को चुराकर भाग गया। न्याय और नीति की रक्षा का दावा रखने वाला अवन्ती सम्राट् पड़ौसी राजाओं की दासियों को चोर की तरह चुराता है— इस कायरतापूर्ण कलंक की परवाह उसके कामान्ध हृदय को कभी नहीं हुई।

उदायन अपने दश सामन्त राजाओं के साथ विशाल सेना लेकर चन्द्रप्रद्योत को ललकारने के लिए चल पड़ा। ज्येष्ठ मास की चिलचिलाती घूप की परवाह किये बिना सिन्धु-सौवीर की विशाल सेना मालव-भूमि की ओर सागर की क्षुब्ध-लहरों की तरह उमड़ चली। सेना मार्ग के बीच में आये मरु-प्रदेश को पार कर रही थी कि भयंकर गर्मी दूर-दूर तक फैले हुए रेत के टीले और जलाभाव के कारण वह व्याकुल हो गई। लगातार तीन दिन तक जलाभाव का कष्ट बढ़ता



ही चला गया । दूर-दूर तक मैदान साफ पड़े थे, कहीं भी पानी की एक बूँद नजर नहीं आ रही थी । मरु-बालुका पर केवल मृगमरीचिका का भ्रान्त जल ही चमकता था और कुछ नहीं ।

पानी के बिना सब के प्राणों पर बन रही थी । उदायन ने आज के अजमेर (राजस्थान) के पास एक पहाड़ की घाटी में पड़ाव डाला और वहाँ स्वर्गीय पत्नी प्रभावती देवी का स्मरण किया । दैवी प्रभाव से मरुदेश की प्यासी धरती पर सघन जलधर बरस पड़े । चारों ओर शान्त और सरस वातावरण छा गया । देवी ने वहाँ एक सदानीरा पुष्करिणी का निर्माण किया, जिसके कारण आगे चलकर उसका नाम 'पुष्कर तीर्थ' पड़ गया, जो आज भी नागपर्वत की घाटी में स्थित है । सेना ने हर्षोल्लास के साथ आगे कूच किया और मालव-धरा को रौंदती हुई अवन्ती के रण क्षेत्र में जाकर डट गई । राजधानी उज्जयिनी के चारों ओर घेरा डाल दिया ।

दयावीर उदायन ने भयंकर नर-संहार से बचने के लिए चन्द्रप्रद्योत को द्वन्द्व-युद्ध के लिए आह्वान किया । दोनों का गजयुद्ध के बदले रथयुद्ध निश्चित हुआ । किन्तु, चन्द्रप्रद्योत का हृदय धड़क रहा था कि रथ-युद्ध में वह धनुर्धर उदायन के समक्ष टिक नहीं सकेगा । इसलिए अपने चालाकी की और दूसरे दिन रथ की जगह अपने दुर्दान्त अनलगिरी हाथी पर चढ़कर मैदान में आया । उदायन ने उसे प्रतिज्ञा के विरुद्ध

हाथी पर आते देखा, तो फटकारा—'कायर ! यह क्या ? तूने युद्ध से पहले ही निश्चित प्रतिज्ञा भंग कर दी ? किन्तु कुछ भी हो, आज तू मेरे हाथों से बचकर नहीं जा सकता ।' और, दोनों योद्धा दो जलभरे काले मेघों की तरह प्रचण्ड गर्जना के साथ युद्धक्षेत्र में टकरा गये। दोनों ओर की सेनाएं दर्शक बनकर दूर खड़ी रहीं । उदायन ने पलक मारते ही रथ को बिजली की तरह अतिशीघ्र चक्रगति से घुमाया और अनलगिरि के पैरों पर भयंकर बाण-वर्षा शुरू कर दी । देखते ही देखते अनलगिरि के चारों पैर बानों से बिध कर छलनी हो गए । रक्त के फव्वारे छूट गये, और वह घायल होकर भयानक चिंघाड़ मारता हुआ रणक्षेत्र में गिर पड़ा । हाथी के गिरते ही चण्डप्रद्योत भागने की चेष्टा करने लगा, किन्तु वीर उदायन ने उसे तत्काल बन्दी बना लिया ।

संसार युग-युग तक उसकी उद्दाम काम-लिप्सा को दुत्कारता रहे इसलिए उदायन के आदेश से चण्डप्रद्योत के भाल पर 'दासीपति' शब्द उट्टंकित कर दिया गया ।

इधर चण्डप्रद्योत की पराजय का समाचार सुना, तो दासी कहीं अन्यत्र भाग गई । अवंती के नगरजनों के आग्रह पर उदायन ने देव प्रतिमा वहीं स्थापित कर दी । चण्डप्रद्योत को बन्दी बनाकर उदायन ने वीरभय की ओर प्रस्थान किया ।

वर्षाकाल प्रारम्भ हो चुका था, पर्युषण पर्व का समय निकट - से - निकटतर आता जा रहा था । उदायन श्रमण

भगवान् महावीर का अनुयायी श्रावक था। पयुषण पर्व के अवसर पर आठ दिन धर्मारोधना करना उसका जीवन-व्रत था। मार्ग में ही, एक सुरक्षित स्थान देखकर पड़ाव डाल दिया गया। उदायन पौषध व्रत, स्वाध्याय एवं आत्म चिन्तन करने लगा।

पयुषण का अन्तिम दिन 'संवत्सरी-पर्व' था। उदायन ने रसोइये को बुला कर कहा—“आज संवत्सरी-पर्व है। मैं तो उपवास करूँगा। और दूसरे सेनापति सामन्त आदि जो स्वेच्छा से उपवास करना चाहें, उपवास करें और जो उपवास ना कर सकें, उनके लिए भोजन की व्यवस्था कर देना।” सम्राट् ने चण्डप्रद्योत के लिए खासतौर से भोजन व्यवस्था की सूचना दी। सम्राट् का विश्वास मात्र न्याय के लिए संवर्ष में था, किन्तु वे व्यक्तिगत घृणा से परे थे। रसोइये ने चण्डप्रद्योत से पूछा कि—“आप आज क्या भोजन पसंद करेंगे? संवत्सरी पर्व होने से हमारे सम्राट् और कुछ अन्य लोग तो आज उपवास करेंगे।”

“आज ही क्यों पूछा जा रहा है? अवश्य ही भोजन में विष देने की यह गुप्त योजना प्रतीत होती है”—चण्डप्रद्योत सशंक हो उठा। ‘जैसा मन वैसा चिन्तन!’ आखिर, वह दूसरी

१. जहाँ सेना ने पड़ाव डाला था, वह स्थान 'दशपुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो वर्तमान में 'मन्दसौर' कहा जाता है।

अच्छी बात सोच भी कैसे सकता था ? “महाराज ! भोजन नहीं करेगे, तो मैं भी नहीं करूँगा । मुझे भी संवत्सरी पर्व का उपवास करना है । मेरे माता - पिता भी जैनधर्मी थे भाई !” चण्डप्रद्योत ने अपनी कल्पित विपत्ति से बच निकलने के मनोभाव से कहा ।

उदायन को जब यह सूचना मिली कि चण्डप्रद्योत भी संवत्सरी का उपवास करेगा, तो उनके हृदय में सहधर्मी का वात्सल्य भाव जाग उठा । सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के अवसर पर उसके गुरुतर अपराध को भी भुलाकर वे सांवत्सरिक क्षमा-याचना करने के लिए बन्दी चण्डप्रद्योत के समीप विनम्र भाव से पहुँचे । अखिल विश्व के प्राणिमात्र से क्षमापना करने वाला साधक अपने निकट के शत्रु से क्षमा-याचना न करे, तो आपका सांवत्सरिक आराधना, क्षमापर्व की उपासना परिपूर्ण कैसे हो ? मित्र-तो-मित्र है ही, शत्रु के प्रति भी मित्रभाव जागृत हो, यही तो क्षमा की सच्ची आराधना है । उदायन का चिन्तन प्रबुद्ध हुआ और उसने बन्दी चण्डप्रद्योत से करबद्ध क्षमापना की — “सहधर्मी बन्धु ! मैं तुम्हें क्षमाता हूँ ।”

चालाक चण्डप्रद्योत इस अवसर को हाथ से निकलने नहीं देना चाहता था, तुरन्त बोल उठा—“यह कैसी क्षमा ? मुझे पशु की तरह लोहे के पिंजड़े में डाल रखा है और सहधर्मी बन्धु का ढोंग करके क्षमा याचना कर रहे हो ? यदि तुम्हारे

हृदय में सच्ची क्षमा है, सरलता है, तो मुझे मुक्त करो, तभी इस क्षमापना का कुछ अर्थ है ! “यद्यपि चण्डप्रद्योत जैसे दुर्दान्त शत्रु को इस प्रकार सहज ही छोड़ देना राजनीति को एक भूल मानी जा सकती है, किन्तु उसे इस पवित्र प्रसंग पर बन्दी रखना सम्राट् की वीरक्षमा की पराजय भी तो थी। विचारों में द्वन्द्व मच गया धर्म और राजनीति का ! अमृत और विष की टक्कर थी यह। अन्ततः अमृत की ही विजय हुई। सम्राट् उदायन राज्य में रहते हुए भी राजर्षि थे, युद्ध-वीर होते हुए भी क्षमावीर थे। उनकी वीरक्षमा मुखर हो उठी—“सेनापति ! चण्डप्रद्योत को मुक्त कर दो। मैंने इसे क्षमा कर दिया है। अब यह मेरा शत्रु नहीं रहा, मित्र है, सहधर्मी है।”

उदायन की वीरक्षमा पर चण्डप्रद्योत स्वयं चकित - सा देखता रह गया। क्षणभर में उसके बन्धन खोल दिए गए और उदायन ने स्नेह-पूर्वक चन्द्रप्रद्योत से क्षमापना की। आवेश-वश भाल पर अंकित किया गया शब्द ‘दासीपति’ स्वयं उदायन की आँखों में खटक गया। इसे ढकने के लिए चण्डप्रद्योत के भाल पर स्वर्णपट्ट बाँधा गया। उदायन ने उसे अपना पट्ट-बन्ध मित्र राजा बना कर विदा किया अवन्तीपति सम्राट् के रूप में।—निशीथ चूणि भाग ३ पृ० २४८



भादों को काली-कजरारी रात ! कज्जल-गिरि-जैसे भयंकर मेघ आकाश में छाए हुए हैं। काली घटाओं में कभी-कभी गर्जना के स्वर फूटते हैं, तो लगता है वैभारगिरि की कन्दराओं में कोई शेर दहाड़ उठा हो। बिजलियाँ कौंध रही हैं बरसात की मदमाती हवाएँ तरु - लताओं से छेड़छाड़ करती घूम रही हैं। महाराज श्रेणिक महारानी चेलना के साथ वर्षा-रात्रि की नीरव छटा देखने के लिए गवाक्ष में बैठे हैं। इतने में ही काल रात्रि के गहन अंधकार को चीरती हुई बिजली चमकी, तो रानी चेलना ने देखा कि एक अति वृद्ध पुरुष सामने उफनती नदी के तेज प्रवाह में बहती हुई लकड़ियाँ बीन रहा है।

रानी ने अँगुली के इशारे से राजा को बताया—“महाराज! देखिए इस भयंकर वर्षा की रात में कोई बूढ़ा नदी की धारा में से लकड़ियाँ बीन रहा है।” बिजली रह-रह कर कौंध ही रही थी ! उसके प्रकाश में राजा ने भी देखा कि सचमुच ही एक जर्जर - शरीर वृद्ध वर्षा की मध्यरात्रि में भी जीवन-संघर्ष में जूझ रहा है, साक्षात् मृत्यु से खेल रहा है। जरा भी पैर उखड़ जाए और नदी की उद्दामधारा में वह जाए, तो लाश तक का भी पता न लगे। राजा विचार में पड़ गया—इतना दीन-दरिद्र ! दिन भर के कठोर धर्म से भी दो रोटी

का प्रबन्ध न हो सका होगा, तभी तो इस प्रकार तमसाच्छन्न घोर - रात्रि में भी वह वर्षा से बिकरी हुई नदी की प्राणलेवा तेज धारा में अपने अतिप्रिय जीवन की बलि दे रहा है ।

करुणाद्रि हृदय रानी ने विचारमग्न राजा से कहा—  
‘महाराज ! धनकुबेरों की महानगरी राजगृह में क्या एक वृद्ध पुरुष की रोटी का प्रबन्ध भी नहीं हो सकता ? बेचारा मौत की चौखट पर खड़ा है, फिर भी उसे पेट के लिए ऐसी भयानक रातों में नदी पर लकड़ियाँ बीननी पड़ती हैं । मगध के महान् राज्य में वृद्धों और दरिद्रों की यह अवस्था ! बर-साती अंधेरी रातों में तो कुत्ते और सियाल भी अपनी धुरी में से नहीं निकलते और यहाँ आदमियों को अपनी रोजी-रोटी के लिए इस प्रकार मौत से खेलना पड़ता है ।’

वृद्ध की दयनीय दशा देख कर पहले ही सम्राट् का हृदय पसीज रहा था । और उस पर महारानी की यह बात ? सम्राट् ने तुरन्त पहरदारों को पुकारा और कहा— “सामने नदी तट पर जाओ, और देखो की नदी की धारा में से लकड़ियाँ बीनने वाला यह दरिद्र कौन है और कहाँ रहता है ? प्रातः इसे राजसभा में उपस्थित करना !”

राजा श्रेणिक को रात-भर नींद नहीं आई । बार-बार उनकी आँखों में वही दृश्य घूमने लगा—‘बादल गरज रहे हैं, बिजलियाँ कौंध रही हैं, मूसलाधार वर्षा हो रही है, पुरवा

हवा वह रही है और थर्-थर् काँपता हुआ एक गरीब बूढ़ा नदी के प्रवाह में बहकर आती लकड़ियों को बीनकर एक बड़ा-सा गट्टर बाँध रहा है कितना दरिद्र ! और कितना असहाय होगा बेचारा, वह !”

प्रातः राजसभा में पहरेदारों ने एक व्यक्ति को उपस्थित किया—“महाराज ! रात में जो नदी के प्रवाह में लकड़ियाँ बीन रहा था, यही है वह !”

राजा ने ऊपर से नीचे तक गहरी दृष्टि डाली । शरीर पर सुन्दर रेशमी वस्त्र हवा के हलके झोंकों से हिल रहे हैं । कानों में मणि—जटित कुण्डल दमक रहे हैं और हाथों की अंगुलियों में चमकती रत्न-जटित मुद्रिकाएँ अपनी अलग ही आभा बिखेर रही हैं ! राजा को लगा, पहरेदारों ने भूल से किसी सभ्य श्रेष्ठी को पकड़ लिया है । राजा की आँखों में मन्देह तैर गया, उसने कठोर शब्दों में पहरेदारों को डाँटा ।

पहरेदारों ने निवेदन किया—“महाराज, यही है वह वृद्ध पुरुष ! बुलाकर लाने में भूल नहीं हुई है ।”

राजा ने श्रेष्ठी को अपने निकट बुलाया और धीरे-से पूछा—“क्या रात की हकीकत सच है ? तुम्हीं नदी पर लकड़ियाँ ...।”

“हाँ, महाराज”—उसका स्वर थोड़ा-सा कम्पित था, कुछ दबा हुआ-सा भी ।



“तुम तो श्रीमंत और सुखी लगते हो, फिर अंधेरी रात में इस प्रकार यह जानलेवा परिश्रम किसलिए कर रहे थे ?”

“महाराज ! देखने में मैं अवश्य सुखी और श्रीमंत लगता हूँ । आपने सुना भी होगा, लोग मुझे मम्मण सेठ के नाम से पुकारते हैं । किन्तु, अपने मन की पीड़ा मैं ही जानता हूँ । मैं एक बहुत बड़े अभाव से ग्रस्त हूँ । उस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने सर्वस्व दाँव पर लगा दिया है । ये कुछ सुन्दर अलंकार और वस्त्र तो इधर-उधर आने-जाने के लिए केवल प्रतिष्ठा की दृष्टि से रख छोड़े हैं, और कुछ नहीं । महाराज, क्या बताऊँ ? सब-कुछ स्वाहा करके भी वह मेरी कमी पूरी नहीं हो रही है । और जब तक वह पूरी नहीं होगी, तब तक मुझे यह सब-कुछ करना ही होगा ।”

“वह क्या ?”—सम्राट् ने आश्चर्यपूर्वक पूछा ।

“मुझे एक बैल की जोड़ी पूरी करनी है । एक सुन्दर बैल मेरे पास है, उसी की जोड़ी का दूसरा बैल मुझे चाहिए इसी-लिए यह कठोर परिश्रम कर रहा हूँ ।”

सम्राट् के होठों पर मधुर हास्य बिखर गया—“एक बैल के लिए इतना कष्ट ! जाओ, मेरी वृषभशाला में से जो बैल पसन्द आए, ले जाओ और अपनी जोड़ी पूरी करके आराम से रहो ।”

मम्मण सेठ राजपुरुषों के साथ मगधपति की वृषभशाला में इस पार से उस पार तक घूमता चला गया । अनेक सुन्दर

हृष्ट-पुष्ट वृषभ गरज रहे थे, जैसे हाथी के बच्चे हों । किन्तु, मम्मण को एक भी वृषभ पसन्द नहीं आया । वह खाली हाथ सम्राट के सम्मुख आ खड़ा हुआ ।

सम्राट ने पूछा — ‘क्यों ? क्या बात है ? कोई बैल पसन्द आया ? बहुत बैल हैं, एक-से-एक सुन्दर और बलवान । जो पसन्द आया हो, ले जाओ ।’

मम्मण ने सिर हिलाया — “महाराज मेरे बैल की जोड़ी का एक भी बैल आपकी ‘वृषभ-शाला’ में नहीं है ।”

श्रेणिक ने आश्चर्य से पूछा — ‘ऐसा कैसा बैल है, जिसकी जोड़ी का बैल मगध के हजारों बैल में भी नहीं मिल सका ? लाओ अपने बैल को, जरा देखें तो ऐसा कैसा बैल है ?’

मम्मण ने कहा — “महाराज ! मेरा बैल यहाँ नहीं आ सकता । आप देखना चाहें, तो मेरे घर को पवित्र कीजिए ।”

श्रेणिक की उत्सुकता और बढ़ गई । ऐसा कैसा विचित्र बैल होगा, जो मगध की वृषभ-शाला में भी उसकी सानी का बैल नहीं ? नहीं, बनिये का भूठा अहंकार है । अभी चल कर देखेंगे । महामंत्री अभयकुमार के परामर्श से बैल देखने के लिए अगला ही दिन निश्चित हो गया । व्यक्ति के मन में जगी हुई उत्कण्ठा अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकती ।

महाराज ने रानी चेलना से गत रात्रि की घटना का जिक्र

करते हुए बैल की चर्चा की तो रानी भी देखने के लिए उतावली हो गई। महाराज, महामंत्री अभय और महारानी चेलना को साथ लिये मम्मण के द्वार पर पहुँचे। पूर्व पुरखों से चला आ रहा भव्य महल था, बहुत बड़ी अट्टालिका थी। मम्मण ने महाराज से भीतर पधारने के लिए कहा, तो सम्राट् ने कहा—“भाई, सीधे अपनी गोशाला में चलो, हमें तो वह बैल देखना है।”

मम्मन ने कहा—“महाराज ! मेरा बैल गोशाला में नहीं, घर में ही है। अभी आपको दिखाऊँगा।”

मम्मण सेठ राजा, रानी और महामंत्री को अपने भवन में ले गया। रानी सोच रही थी—“ऐसे भव्य महल में भी कभी बैल रहते हैं ? कैसा वेवकूफ है यह बनिया ?” भवन का एक के बाद एक आँगन पार होता रहा, ओर अन्त में वे एक विशाल कक्ष में भूमिगृह के द्वार पर पहुँच गए। राजा ने कहा—“सेठ, हम तुम्हारा घर देखने नहीं आए, बैल देखने आए हैं।”

“हां, महाराज ! मैं भी बैल ही तो दिखा रहा हूँ।” तभी सेठ ने सब के साथ भूमिगृह में प्रवेश किया, और आगे बढ़कर ज्यों ही परदा हटाया तो चारों ओर रंग-बिरंगा प्रकाश फैल गया। सामने ही रत्नों और मणियों से जड़ा हुआ एक सोने का बैल खड़ा था, उसकी ज्योति चारों ओर छिटक रही थी। आँखों में बड़े बड़े वैडूर्य मणि जड़े हुए थे। सींग और

पूँछ पर नीलम-पन्ने ! रानी और मंत्री देखते ही सब-के-सब ठगे से रह गए । आज तक ऐसा बैल देखना तो दूर, कल्पना में भी नहीं आया था । बैल क्या है, मानो साक्षात् धनपति कुबेर ही वृषभ बन कर खड़ा है ।

सम्राट् की स्तब्धता को भंग करते हुए मम्मण ने कहा — “महाराज अब मेरे दूसरे कक्ष में चलिए । राजा-रानी और मंत्री मम्मण के पीछे-पीछे भूमिगृह के दूसरे कक्ष में आये । एक परदा हटा और चारों ओर चन्द्रमा की चाँदनीसी छिटक गई । ठीक उसी की जोड़ी का यह दूसरा बैल था । वैसे ही बहुमूल्य नीलम, पन्ने, वैडूर्य और मुक्ता इस सोने के बैल में भी जड़े हुए थे । सम्राट् को सम्बोधित करके मम्मण ने कहा— “महाराज ! यह बैल भी करीब-करीब बन चुका है । आप देख रहे हैं — सिर्फ इसके एक सींग का थोड़ा-सा किनारा (नोंक) ही बाकी रहा है । कुछ बहुमूल्य मणि इसमें और लगेंगे । मेरी सम्पत्ति समाप्त हो चली है । घनाभाव ने मुझे घेर लिया है । जो कुछ था सब लगा चुका । अब सींग को पूरा करूँ तो कैसे करूँ ? इस कमी को पूरा करने की मेरी तीव्र अभिलाषा है । इसीलिए दिन में दुकान पर बैठता हूँ रात में लकड़ियाँ लाकार बेचता हूँ । नदी के प्रवाह में सुदूर पर्वतों से बहकर आती लकड़ियों में कभी-कभी बहुमूल्य चन्दन भी आ जाता है, इसलिए नदी पर लकड़ियाँ बीनता हूँ, उन्हें बेचकर धन जमा करता हूँ । थोड़ा और धन जमा हो

गया, तो इस बैल का सींग पूरा हो जायेगा, मेरी अधूरी जोड़ी पूरी हो जायेगी और महाराज, तभी मेरी अन्तिम सांस सुख से निकल सकेगी।”

राजा, रानी और महामंत्री अभय सभी चकित और भ्रमित होकर मम्मण की बात को सुन रहे थे । एक ओर सोने के रत्न जटित बैलों पर आश्चर्य हो रहा था, तो दूसरी ओर उसकी बैल - जैसी बुद्धि पर तरस भी आ रहा था । सम्राट् ने तभी महारानी चेलना को ओर सस्मित देखा—  
“क्यों देवी, क्या तुम इसकी गरीबी मिटा सकती हो ? यह अधूरी जोड़ी पूरी कर सकोगी ?”

रानी की कमल - जैसी सदा खिली रहने वाली आँखें साहसा मनुष्य की अथाह ममता पर करुणा से गीली हो गई ।  
“महाराज ! मनुष्य की ममता में, ऐसी एक क्या, अनन्त जोड़ियाँ पूरी होने पर भी, आखिरी जोड़ी तो सदा - सर्वदा अधूरी ही रहेगी .....।”

—आचारांग, शीलंग-टीका, पत्र १२५



आर्द्रक कुमार आर्द्रक द्वीप का राजकुमार था। मगध-नरेश श्रेणिक के साथ उसके पिता की गहरी मैत्री थी। समय समय पर व्यापार के लिए आने वाले सार्थवाहों के साथ मगधेश की ओर से अनेक सुन्दर और बहुमूल्य उपहार आया करते थे। आर्द्रक के पिता भी अपने द्वीप की नयी-नयी चीजें भारतवर्ष के अपने मित्र मगधनरेश को भेजा करते थे।

एक बार मगध के कुछ व्यापारियों के साथ महाराज श्रेणिक ने अपने मित्र नरेश को कुछ बहुमूल्य उपहार भेजे। उन्हें देखकर राजकुमार बहुत ही प्रसन्न हुआ। वह मगध-पति के पुत्र महामात्य अभय कुमार के साथ मैत्री करने के लिए उत्सुक हो गया। आर्द्रक कुमार ने अपने विश्वस्त दूत के साथ अभय कुमार की सेवा में कुछ सुन्दर उपहार एवं अपने हाथ का लिखा एक पत्र भेजा।

आर्द्रक कुमार का भाव-भीना पत्र पढ़कर अभय का हृदय गद्गद् हो गया। अपने अनदेखे मित्र के प्रति उसके हृदय में अपार स्नेह उमड़ आया। मगध-साम्राज्य के महामंत्री पद का गुरुतर दायित्व, राजनीति की जटिल ग्रन्थियाँ सन्धि-विग्रह के चक्र-पर-चक्र! इस कारण अभय कुमार मिलने की इच्छा रखते हुए भी आर्द्रक से मिलने के लिए सुदूर

आर्द्रक द्वीप नहीं जा सका। किन्तु, अपने प्रिय परदेशी मित्र के लिए उसने कुछ विशेष उपहार भेजने की एक योजना तैयार की।

अभय ने सोचा—“सोना और मणि-माणिक्य की तो वहाँ भी कमी नहीं है अतः कुछ ऐसी नयी चीज भेजूँ, जो वहाँ नहीं है और जिसे पाकर उसका स्नेह ही नहीं, आत्मा भा जागृत हो जाये। सच्ची मित्रता तो वही है, जो मित्र के जीवन को प्रबुद्ध करने में सहायक हो। खाना-पीना, लेना - देना, यह तो सिर्फ मित्रता का बाहरी रूप है। अभय कुमार की मित्रता औपचारिक नहीं, हार्दिक होनी चाहिए।” यह सोचकर, एक स्वर्ण-मंजूषा में वीतराग - भाव जागृत करने वाला धर्म साधा सम्बन्धी वीतराग-मुद्रा का एक विशिष्ट प्रतीक रख कर, अपने दूत के हाथों अभयकुमार ने आर्द्रक कुमार को भेजा। साथ में एक पत्र भी दिया और उसमें लिखा कि—“मंजूषा को एकान्त में खोलें।”

दूत आर्द्रक द्वीप में पहुँचा। आर्द्रक कुमार को आदर के साथ उसने महामात्य अभय का पत्र और मंजूषा भेंट की। सरल स्नेही आर्द्रक कुमार मित्र का पत्र पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने पत्र को अपने आँखों से लगा लिया। मानो स्वयं मित्र ही मिल गया हो। मित्र के विशेष दूत का उसने बहुत सत्कार किया। एकान्त में जाकर उसने पेटो खोली, तो उसमें चमकते मोतियों और हीरों की जगह वीतराग मुद्रा के रूप

में एक बिल्कुल नयी अद्भुत चीज देखी। वह विचार करने लगा—‘यह क्या है ? किसलिए भेजी गई है ? कभी कहीं ऐसी चीज मैंने देखी....?’ मन में विचार गहरा और गहरा उतरता गया। सोचते-सोचते उसका सरल हृदय जागृत हो उठा। उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसे याद आया कि ‘पिछले जन्म में मैंने ऐसी ही कुछ धर्म-साधना की थी। अमुक अमुक प्रकार के व्रत-नियम ले रखे थे।’

अब तो आर्द्रक कुमार को क्षण-भर के लिए भी चैन नहीं पड़ा। अभयकुमार से मिलने को हृदय उत्कंठित हो गया। पर, इतनी दूर जाए भी तो कैसे ? पिता से अनुमति माँगी, तो अपने एकमात्र लाड़ले पुत्र को यों सुदूर पराये देश में भेजना उन्हें बिल्कुल ही ठीक नहीं लगा। आर्द्रक का मन उचटा - उचटा रहने लगा। उसके चेहरे की प्रसन्नता गाबब हो गई। रह-रह कर उसका मन भारतवर्ष में जाकर पुनः उसा प्रकार की (पिछले जन्म की तरह) धर्म-साधना करने का हो रहा था। पिता ने आर्द्रक कुमार को उदास रहते देखा तो सोचा, कहीं भाग न जाए ? इसलिए पाँच सौ विश्वस्त सुभटों की एक यूनिट उसके साथ कर दी। आर्द्रक कुमार जहाँ-कहीं भी जाता, सुभट उसके साथ - साथ रहते। उसकी प्रत्येक गतिविधि पर प्रच्छन्न रूप से कड़ी नजर रखी जाने लगी।

एक बार वन-विहार के बहाने से आर्द्रक कुमार जंगल में



बहुत दूर निकल गया। इधर - उधर की भाग - दौड़ एवं अमोद - प्रमोद के बाद सब सैनिक विश्राम करने लगे, तो गहरी नींद में सो गये। अवसर पाकर आर्द्रक कुमार चुपके-से, हवा को भी मात देने वाले एक तेजतर्रार घोड़े पर चढ़ा और कुछ ही क्षणों में एक अज्ञात पथ से बहुत दूर निकल गया। काफी दूर समुद्र-तट पर जाकर उसने घोड़े को छोड़ा और एक समुद्री जहाज में बैठकर भारतवर्ष पहुँच गया।

भारत में आकर उसने पूर्वजन्म की स्मृति के आधार पर मुनिव्रत ले लिये। मुनिवेष में वह अमयकुमार से मुलाकात करने को राजगृह की ओर चल पड़ा। रास्ते में एक वसन्त-पुर नाम का नगर आया। आर्द्रक मुनि वहाँ नगर के बाहर एक देव मन्दिर में ठहर गये और एक कोने में ध्यान करने को खड़े हो गये।

×

×

×

×

सन्ध्या का समय था। कुछ - कुछ झुटपुट अँधेरा हो चला था। और, इस बीच मन्दिर के अहाते में कुछ कन्याएँ खेल रहीं थीं। सहज ही पति - वरण के खेल की कल्पना जाग्रत हो गई। और इस खेल-ही-खेल में कन्याओं ने आँख मींच कर दौड़ना शुरू किया और मन्दिर के एक-एक खंभे को पकड़ कर लिपट गईं। परस्पर मजाक करने लगीं। एक ने कहा—‘यह मेरा पति है।’ दूसरी ने कहा—‘देख,

यह मेरा पति है इस प्रकार प्रत्येक कन्या अपने - अपने पति की घोषणा करने लगी। इन लड़कियों में श्रीमती नाम की एक अति सुन्दर श्रेष्ठी - कन्या भी थी। उसने खंभे के भरोसे एक ओर ध्यान में खड़े आर्द्रक मुनि को ही पकड़ लिया। वस, फिर क्या था, साथ की सहेलियाँ ले उड़ी इस बात को—“ओह ! हो ! तेरा पति तो बड़ा सुन्दर हैं।”

श्रीमती ने आँख खोली, देखा तो बस वह कुछ क्षण देखती ही रह गई। मुनि के गुलाबी चेहरे पर एक अद्भुत सौन्दर्य चमक रहा था। अद्भुत ओज, विलक्षण सौम्यता और ताजा खिले फूलों-सी सुकुमारता—श्रीमती मुग्ध भाव से मुनि का रूप आँखों - ही - आँखों पीने लगी।

“ओह ! हो ! क्या देख रही है ? तुझे तो बहुत सुन्दर पति मिला है। अरी तेरी तो तकदीर खुल गई।” सहेलियों ने चुटकी ली।

श्रीमती की आँखें सहज लज्जावश नीचे झुक गई। उसने मन-ही-मन मुनि को पतिरूप में स्वीकार कर लिया। मुनि के चरणों में सहज ही उसका मस्तक झुक गया। हृदय में स्नेह उमड़ आया। आँखों में प्यार छलछला उठा।

मुनि ने देखा—यह क्या ? हँसी - हँसी में यह तो नई विपत्ति आ रही है। ज्यों ही लड़कियाँ खेल कर अपने-अपने

घर गई, मुनि वहाँ से चुपचाप विहार कर आगे चल दिए।

श्रीमती सयानी तो थी ही, माता - पिता विवाह की बातें करने लगे, तो कुछ दिन तो वह चुप रही। परन्तु, जब देखा कि अब बात आगे बढ़ेगी, तो उसने एक दिन विनम्रता से माता के समक्ष अपना विचार प्रकट कर दिया। माता-पिता और परिजन सभी चौंक उठे। “मुनि के साथ विवाह...? यह क्या बहक ? पागल हो गई है क्या ? और फिर उसका अता-पता भी तो कुछ नहीं। कौन है, कहाँ का है, कहाँ गया है ?” श्रीमती को बहुत समझाया गया। एक-से - एक बढ़कर देवकुमार-से-सुन्दर लड़कों के चित्र दिखाये गए, पर वह तो अपने निर्णय से नहीं हिली, सो नहीं हिली ! ‘पति करूँगी तो उसी को, नहीं तो आजीवन कुमारी रहूँगी—श्रीमती के दृढ़ निश्चय के सामने सबका समझना-बुझना व्यर्थ गया।

समय बीतना गया। महीने और वर्ष गुजरते गए। श्रीमती के पिता ने इधर - उधर दूर तक मुनि की बहुत खोजबीन की, परन्तु कोई अता - पता नहीं लगा। धीरे-धीरे श्रीमती की सभी सहेलियों के विवाह होते गए। पर श्रीमती अपने हठ पर कुमारी ही रही। वह उसी अनजाने प्रीतम की राह में आँखें बिछाए बैठी रही। सुबह से शाम तक गवाक्ष में बैठी राह से गुजरने वालों को निहारती रहती, पर वह नहीं मिला। श्रीमती के पिता ने एक विशाल दान-

शाला खोल दी। दान-का-दान और खोये हुए की पहचान ! दानशाला में प्रतिदिन सैकड़ों भिक्षु आते - जाते रहते और उन्हीं में श्रीमती की पैनी आँखें अपने देवता को टोहती रहतीं। श्रीमती दानशालाध्यक्ष के रूप में कार्य करती रही, और समय बीतता गया।

एक दिन आर्द्रक मुनि वसन्तपुर के उसी मार्ग पर चले आए। श्रीमती ने देखा, तो तुरन्त पहचान लिया। वह दौड़ कर मुनि के चरणों में लिपट गई। “मेरे देवता ! यों ठुकराओ मत मुझे स्वीकार करके नव जीवन दो।” श्रीमती के मधुर कंठ से चिररुद्ध राग की वाणी फूट पड़ी, आँखों से स्नेह के आँसुओं की धारा बह निकली। मुनि के पैर आँसुओं की धारा को पारकर आगे बढ़ नहीं सके। इतने में श्रीमती के मन्ना - पिता दौड़े आये, बहुत विनती करने लगे— “महाराज ! यदि आप इसे स्वीकार नहीं करेंगे, तो आपके नाम पर यह प्राण - त्याग देगी, आपके बिना इसका जीवन सूना पतझड़ है। आपको मालूम होना चाहिए, यह उसी खेल के दिन से आज तक आपकी याद में तिल - तिल कर जल रही है।”

श्रीमती के स्नेह पर आर्द्रक मुनि का हृदय पिघल गया। स्नेह यदि मनुष्य को कर्तव्य का मार्ग दिखाने वाला दीपक है, तो भटका देने वाला गहन अंधकार भी है।

आर्द्रक कुमार ने श्रीमती को स्वीकार कर लिया। वह उसके प्यार में उलझ गये। चले थे किधर और पहुंच गए किधर। प्राचीन कथाकार कहते हैं कि इसमें पूर्व जन्म के स्नेह सम्बन्ध की कुछ कड़ियाँ जुड़ी थीं, जो अभी तक टूट नहीं पाई थीं।

कुछ ही दिनों बाद श्रीमती की गोद हरी-भरी हो गयी। बालक की मधुर, उन्मुक्त किलकारियों से घर का आंगन गूँजता रहता। बालक पाँच वर्ष का हुआ होगा कि आर्द्रक कुमार का मन एक दिन चिन्तन में डूब गया। साधना के उस उन्मुक्त एवं पवित्र जीवन को छोड़कर स्नेह और ममता के इस बन्धन में फँस जाने पर उन्हें पश्चात्ताप होने लगा। और, फिर ध्यान आया कि जिस लक्ष्य के लिए माता-पिता के अथाह प्यार और दुलार को ठुकरा कर घर से निकला था, उससे मैं कितनी दूर भटक गया। एक संसार छोड़ा, तो यह दूसरा नया संसार बसा लिया। महा - समुद्र तैर कर आया, तो क्षुद्र तलैया में डूब गया। आर्द्रक कुमार का मन पुनः संसार से विरक्त हो उठा। संयम लेने की बात ज़त्नी से कही। श्रीमती ने सुना तो उसकी आँखें भर आईं। प्रेम और स्नेह की हजार - हजार सागात भी आर्द्रक कुमार के निश्चय को बदल नहीं सकी। वह अपने निश्चय पर दृढ़-से-दृढ़तर होते गये।

एक दिन श्रीमती चरखा लेकर सूत कातने बैठी। बेटे

ने माँ को सूत कातते देखकर पूछा— “माँ, यह क्या कर रही हो ?”

“बेटा, सूत कात रही हूँ। तुम्हारे पिता अब हमको अनाथ छोड़कर साधु बन रहे हैं। ! तो अब हमको निर्दोष आजीविका के द्वारा पेट भरने के लिए कुछ - न - कुछ उद्यम तो करना ही होगा। एक विपन्न नारी के लिए चरखे से बढ़कर और क्या सहारा हो सकता है ?” कहते - कहते श्रीमती की आँखें बरस पड़ीं।

“माँ, पिताजी हमें क्यों छोड़ रहे ? क्या हम से नाराज हो गये हैं ?”

“नहीं बेटा, नाराज तो नहीं हुए। पर कहते हैं कि अब हम साधु बनेंगे। भगवान महावीर के चरणों में जाएँगे और साधना करेंगे।”

“नहीं माँ, नहीं ! मैं पिताजी को ऐसे नहीं जाने दूँगा। फिर हम क्या करेंगे ? मैं अभी पिताजी को बाँध लेता हूँ, देखूँ फिर कैसे जायेंगे ?”

अबोध बालक ने तकुए से सूत उतारा और शय्या पर लेटे हुए पिता के पैरों को आँटे देकर बाँध दिया। खुशी में तालियाँ बजाता हुआ दौड़ता आया माँ के पास, और बोला—“माँ, मैंने पिताजी को बाँध दिया है, अब वे नहीं जा सकेंगे।” माँ ने नटखट बच्चे को पकड़ कर गोद में लेते हुए प्यार से चूम लिया।

आर्द्रक कुमार अर्धनिद्रित-से माँ - बेटे का यह संवाद सुन रहे थे। अबोध बालक की कच्चे धागों से जकड़ने की चेष्टा देखी, तो उनका हृदय गद्-गद् हो गया। बालक की निश्छल सहज ममता ने आर्द्रक के हृदय को द्रवित कर दिया। उन्हें लगा, सूत के ये स्नेह-सिंचित कच्चे तार वज्र-श्रृंखला से भी अधिक मजबूत हैं। पुराना कथाकार कहता है—सूत के कच्चे तार वज्र के हो गये थे, तोड़ने के लिए बहुत बल लगाने पर भी टूट नहीं सके। आज के संदर्भ भी यह वज्रता धागों की नहीं, स्नेह की थी। जो चरण उन्मुक्त विहार के लिए उठ रहे थे, वे अब पुत्र की ममता में बड़ी मजबूती से बँध गए।

सूत के बारह आँटे लगे थे। आर्द्रक कुमार ने निश्चय किया कि अब बारह वर्ष तक और घर में रह कर पुत्र की शिक्षा - दीक्षा का प्रबन्ध करूँगा। समय बीतता गया। शिक्षा होती रही। ज्यों ही बारह वर्ष बीते, आर्द्रक श्रमण भगवान महावीर के चरणों में पड़ेंगे और पुनर्दीक्षित होकर आत्म-साधना का अमर आलोक प्राप्त किया।

—सूतकृतांग, निर्युक्ति चूर्णि, टीका



“जो स्वयं अनाथ है, वह दूसरों का नाथ कैसे बन सकता है ?”—तरुण योगी के छोटे-से उत्तर ने मगध-सम्राट् श्रेणिक के अहं-ग्रस्त हृदय को सहसा झकझोर दिया ।

राजगृह के बाहर ‘मण्डित कुक्षि’ नाम का एक चैत्य (उद्यान) था । उद्यान में तरह-तरह के वृक्ष, लता और गुल्म हवा के हल्के-हल्के झोंको से जैसे मस्ती में झूम रहे थे । सब ओर रंग - बिरंगे, सुन्दर और सुगन्धित पुष्प खिले हुए थे । शीतल-मन्द समीर अपने हर हल्के झोंके के साथ मुक्त भाव से सौरभ बिखेरता चल रहा था । विहार यात्रा करते हुए मगधाधिपति श्रेणिक एक दिन अकल्पित ही इधर आ निकले । सम्राट् ने देखा, उद्यान के एक कोने में वृक्ष में नीचे, एक तरुण योगी कब से ध्यान लगाये खड़ा है । उसकी स्निग्ध निर्मल दृष्टि अपलक नासिका के अग्रभाग पर जमी हुई है । शरीर सीधा दण्डायमान प्रस्तर - प्रतिमा की तरह सर्वथा स्थिर है । उसके विशाल ललाट पर अद्भुत तेज चमक रहा है । जैसे कोई दिव्य ज्योति अन्दर-ही-अन्दर जल रही है । और, चारों ओर उसकी प्रभा विकीर्ण हो रही है । उसके पद्मगौर मुखमण्डल पर सुकुमार सौन्दर्य दमक रहा है । सम्राट् योगी की ओर अपलक देखता रहा । उसे लगा,



जैसे स्वर्गलोक का कोई देवकुमार अभी-अभी संन्यास लेकर धरती पर उतरा है ।

समाधि का समय पूरा हुआ । मुनि ने ध्यान खोला । देखा, सामने मगधपति विचारों में कुछ खोए-खोए-से कर-बढ़ खड़े हैं ।

मुनि की तेजोदीप्त मुखमुद्रा के समक्ष सम्राट् का राज-गौरव से गर्वोन्नत मस्तक भी सहज श्रद्धा से झुक गया । नम्रता पूर्वक सम्राट् बोले—“मुने ! भोग की अवस्था में योग ? आनन्द और विलास के समय में विरक्ति ? तुम्हारा सहज सुकुमार सौन्दर्य कठोर मुनिचर्या के योग्य नहीं है । तुम अभी भिक्षु कैसे बन गए ?”

मुनि ने गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—“राजन् ! मैं अनाथ था, कोई सहारा नहीं था, इसलिए भिक्षु बन गया ।”

श्रेणिक ने मन-ही-मन सोचा—“ठीक तो है । अनाथ आर असहाय लोगों के लिए भिक्षु होने के सिवा और चारा ही क्या है ?”

सम्राट् के अन्तर्मन में सहज करुणा जगी—“राष्ट्र का होनहार युवक भिक्षु बनता है, अभाव की ठोकरें खाकर । यह कैसे हो सकता है ? मैं सम्राट् हूँ, मेरा कर्तव्य है—मैं राष्ट्र की उठती तरुणाई को अभाव-मुक्त करूँ ।” सम्राट् ने आश्वासन की भाषा में कहा—“हाँ, तो युवक ! तुम अनाथ

हो ? कोई सहारा नहीं ? चलो, मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ । मेरे साथ आओ, छोड़ो यह सब प्रपंच और मानव-जीवन का मुक्त आनन्द उठाओ ।

“जो स्वयं अनाथ हो, वह दूसरों का नाथ कैसे हो सकता है ?”—मुनि ने धीर - गम्भीर वाणी में छोटा - सा उत्तर दिया ।

मगधपति श्रेणिक मुनि का उत्तर सुनकर सन्न रह गया । सोचा, इस श्रमण को अभी यह पता नहीं कि मैं कौन हूँ ? मगध का सम्राट् और अनाथ ? यदि मुझे जानता होता तो ऐसा कैसे कहता ? विक्षिप्त भी तो नहीं, जो यों ही मन में आया, बोल गया हो !

सम्राट् ने अपना परिचय देते हुए कहा—“मुनिवर ! आपको नहीं मालूम मैं मगध सम्राट् श्रेणिक हूँ । बड़े-बड़े दुर्दान्त शत्रु मेरे नाम से काँपते हैं । पवन से होड़ लेने वाले अश्व और कज्जलगिरि के समान गजराज हजारों की संख्या में मेरे पास है । वैभव के अक्षय भण्डार भरे हुए हैं । सामने खड़े महलों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ मेरे ऐश्वर्य की कहानी कह रही है । बड़े-बड़े वीर योद्धा, मेरे समक्ष नत-मस्तक हैं । हजारों ही दास - दासी प्रतिक्षण मेरे सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं । आपको मालूम नहीं, इसलिए मुझे अपने मुँह से अपना परिचय देना पड़ा है । आप चलिए, राजमहलों में आनन्द से रहिए । सैकड़ों सेवक-सेविनाएँ आपकी सेवा में

प्रस्तुत रहेंगे। एक - से - एक अम्भरा जैसी सुन्दर युवतियाँ आपकी प्रसन्न दृष्टि की प्रतीक्षा में खड़ी रहेंगी।”

“मैं जानता हूँ, मगध सम्राट् ! आपको और आपके वैभव तथा ऐश्वर्य को। पर, जिस वैभव और ऐश्वर्य पर आपको इतना गर्व है, क्या आप भरोसा कर सकते हैं कि वह विपत्ति में आपका सहाय हो सकेगा ? संकट और व्याधियों से वह आपको बचा सकेगा ?”

मुनि के तीव्र प्रश्न पर श्रेणिक गंभीर हो गया। भौतिक वैभव की आस्था डगमगाने लगी। मुनि ने आगे कहना चालू रखा—“सम्राट् ! यह वैभव तो मेरे पास भी कुछ कम नहीं था। किन्तु, वह मेरी रक्षा नहीं कर सका। मुझे त्राण नहीं दे सका। जानते हो, मैं कौशाम्बी के नगर - श्रेष्ठी का पुत्र था। सैकड़ों ही सेवक - सेविकाएँ करबद्ध मेरी सेवा में जुटे रहते थे। धन-वैभव का अम्बार लगा था। माता-पिता का मुझ पर अपार प्रेम था। छोटे - बड़े भाई - बहनों का सहज स्नेह जो मुझे मिला, वह किसी भाग्यशाली को ही मिलता है। और, वह पतिव्रता पत्नी अनिच सुन्दरी, साथ ही शाल-सौजन्य की प्रतिमूर्ति। कि बहुता, भोग - विलास के सब साधन उपलब्ध थे, पर...”

“पर...क्या ? जब यश सब कुछ तुम्हें उपलब्ध था, तब तुम अनाथ कैसे ? और, क्यों भिक्षू बने ?” मगध सम्राट्

का प्रश्न था। कृत्रिम नहीं, बिल्कुल सहज। भौतिक वैभवं सम्पन्न सम्राट् समझ नहीं पा रहे थे कि इतने बड़े ऐश्वर्य के सिंहासन पर भी यह तरुण अनाथ कैसे हो गया और भिक्षु क्यों बन गया ? मुनि और सम्राट् के वैचारिक धरातल में बहुत बड़ा अन्तर था। दोनों दो किनारों पर एक की बोलने की भाषा आध्यात्मिक थी, दो दूसरे की भाषा थी निरी भौतिक।

“एक दिन मेरी आँखें दुखने लगीं। अनेक वैद्य आए। मंत्र-तंत्र और औषध करके हार गए। खड़ी-बूटी कोई काम नहीं कर सकी। मैं भयंकर वेदना से छटपटाता रहा। मेरे पिता पानी की तरह धन बहा रहे थे।” वे बार-बार कहते—“कोई मेरे पुत्र की वेदना शान्त कर दे, तो मैं उसे सारी सम्पत्ति दान कर दूँ।” पर ज्यों-ज्यों उपचार हुए, मेरी वेदना शान्त होने के बदले बढ़ती ही गई। मुझे वेदना में तड़पता देखकर मेरी माँ आसुओं में भीगी मेरे सिर पर हाथ रखे बैठी रहती थी। जिससे भी और जो भी सुना, सब देवी-देवताओं की मनौतियाँ उसने मान लीं। सिद्ध-मंत्रवादियों के द्वार-द्वार वह भटक आई। पर, आखिर में असहाय होकर मेरी वेदना को देखकर रोती रहती। वह विवश थी, सब-कुछ करने पर भी कुछ न कर सकी।

मेरी पत्नी सेवा में प्रतिक्षण तैयार रहती। मेरे लिए वह देने को तैयार थी। पर, वह भी मेरी पीड़ा के

सामने आँसू ~~रहने~~ के सिवा कुछ नहीं कर सकी ।

“बहन और भाई बिचारे दीन - भाव से देखते रहते । उनका स्नेह मेरे लिए सब - कुछ करने को प्रस्तुत था, किन्तु मेरी वेदना की शान्ति के लिए वे भी कुछ न कर सके । नौकर - चाकर भी हमारे परिवार के अभिन्न अंग थे, वे भी हर समय सेवा में हाथ जोड़े खड़े रहते और अपने - अपने आराध्य देवी - देवताओं से मेरे स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करते रहते थे । पर कोई भी मेरी पीड़ा को नहीं बँटा सका । कुछ क्षणों के लिए भी नहीं बँटा सका !”

मुनि की करुणा और दर्द से भरी कहानी को सुनते-सुनते सम्राट् श्रेणिक स्वयं अपने को भी असहाय-सा देखने लगा ।

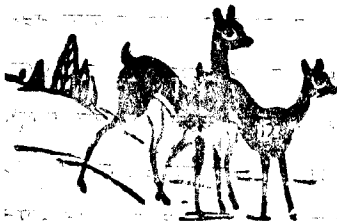
मुनि ने आगे कहा—राजन् ! पीड़ा से व्याकुल एक दिन मेरे मन में संकल्प जगा—“यह जीवन कितना असहाय है ? मानव अपने सुख के लिए ऊँचे - ऊँचे महल खड़े करता है, संसार के साथ नाते - रिश्ते जोड़ता है । माता - पिता और भाई - बहन की ममता में डूबा रहता है । पत्नी और बच्चों के स्नेह में अपने को भूल जाता है ।” सोचता है—“मेरे दुःख - सुख के साथी हैं ।” पर राजन् ! जब दुःख आता है, पीड़ा आती है, तो उसको कोई नहीं बचा सकता । सब देखते रह जाते हैं, कोई उसका दर्द बाँट नहीं सकता । कष्ट और वेदना से कोई उसे उबार नहीं सकता । बस, यह ? मेरी अनाथता और असहायता थी ।

“मैं उस दिन इन्हीं विचारों में रहा, और सोचता रहा कि कोई किसी का नाथ नहीं है, रक्षक नहीं है । मनुष्य स्वयं ही स्वयं का नाथ है, आत्मा ही आत्मा का रक्षक है—, अत्ताहि अत्तनो नाथो’ । आत्मा ही नरक है । आत्मा ही स्वर्ग है । आत्मा ही नरक का कूट - शाल्मली वृक्ष है, तो आत्मा ही नन्दन वन है । आत्मा ही अपना मित्र है, जब वह धर्मानुकूल आचरण करता है, और आत्मा ही अपना शत्रु है, जब वह धर्मविरुद्ध पापाचरण करता है । अपने को छोड़कर अन्यत्र सुख कहाँ है ? और सुख...? वास्तव में वह सुख क्या है ? इन बाह्य वस्तुओं में सुख होता, तो मेरे माता-पिता मुझे यों वेदना में तड़पने नहीं देते । बाहर में सुख नहीं है । सुख तो अन्तर् में है, । आत्मा में है । उसी सुख को प्राप्त करना चाहिए, जो सच्चा सुख है । जो भ्रम नहीं, यथार्थ है । यह विचार करते - करते मुझे कुछ शान्ति मिली । लगा, जैसे पीड़ा कम हो रही है, आँखों में आज बहुत दिनों के बाद हल्की झपकियाँ आ रही हैं । कुछ ही देर में मेरी आँख लग गई । मैं शान्ति से सो गया । घर के लोग बहुत प्रसन्न हुए कि कुमार को आज कुछ आराम मिला है । प्रातः उठा तो मेरी वेदना बिल्कुल शान्त हो चुकी थी, तन के साथ मन भी अब मेरा शान्त था । रात में उठे हुए संकल्प मुझे अमर आत्म-शान्ति की ओर प्रेरित कर रहे थे । माता-पिता के हृदय की ममता अब मुझे रोक नहीं सकी, पत्नी का स्नेह मुझे बाँध

नहीं सका। मैं उसी दिन भौतिक ऐश्वर्य के प्रकाश में जगमगर करता समृद्ध घर छोड़ कर निकल पड़ा। मैंने मुनिव्रत ले लिया। साधना में लीन हो गया। अब मुझे अपूर्व शान्ति मिल चुकी है। मेरी दीनता मिट चुकी है। मैं अब अपना नाथ आप बन गया हूँ। अपना सहारा खुद हूँ।"

सम्राट् श्रेणिक ने जीवन की इस अनाथता को जीवन में पहली बार समझा! भौतिक वैभव का दर्प गल गया, समझ का नाथ अब अपने आपको अनाथ देखने लगा। जिस भौतिक बल पर विश्वास किए, वह अपने को संसार का नाथ मान रहा था, उस भौतिक बल और साधनों की निस्सारता एवं असमर्थता का अनुभव सम्राट् के मन को उद्वेलित कर उठा। मुनि की वाणी में आत्मानुभूति की तीव्र धड़कन थी, जो उनकी आत्मनाथता को व्यक्त कर रही थी। सम्राट् को आज सच्ची नाथता के दर्शन हुए, वे श्रद्धा से मुनि के चरणों में झुक गए।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २०



अमन भगवान् महावीर के पंचम गणधर आर्य सुधर्मा के चरणों में जहाँ एक ओर बड़े-बड़े राजा, राजकुमार तथा श्रेष्ठी, श्रेष्ठीकुमार आकर मुनि दीक्षा लेते, वहाँ दूसरी ओर दीन दरिद्र, यहाँ तक कि पथ के भिखारी भी दीक्षित होते, साधना करते । इसी शृङ्खला में एक बार राजगृह का एक दीन लकड़हारा भी विरक्त होकर मुनि बन गया था । साधनों के क्षेत्र में तो आत्मा की ही परख होती है, देह, वंश और कुल की नहीं ।

एक बार महामात्य अभयकुमार सामन्तों के साथ वन-विहार के लिए जा रहे थे कि मार्ग में वही लकड़हारा मुनि भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश करते हुए सामने मिल गया । अभयकुमार ने घोड़े से नीचे उतर कर मुनि चरणों में भक्ति-भाव ने बिलम्ब वन्दना की । घूम कर उसने पीछे देखा, तो सामन्त लोग कनखियों में हँस रहे थे । सामन्त ही नहीं, भास-पास बड़े अन्य नागरिक भी मजाक के मूड में थे ।

महामंत्री अभय ने सामन्तों के हँसने का कारण जान लिया । फिर भी उसने पूछा, तो एक सामन्त ने व्यंगपूर्वक कहा — गणध का महामंत्री, किस राजर्षि के चरणों में स्त्र भुका रहा है ? जो कल दर-दर की ठोकरें खाने वाला एक



दीन लकड़हारा था । वही आज बहुत बड़ा त्यागी बन गया ! धन्य हो, इतना गजब का त्याग उसने किया है कि मगध के महामंत्री भी अश्व से नीचे उतर कर प्रणाम करते हैं । यह कितनी प्रसन्नता की बात है ?”

सामन्त के शब्दों में तीखा व्यंग था, त्याग का उपहास था । अभयकुमार को उक्त संस्कारहीन परिहास पर रोष तो आया, परन्तु उसके प्रबुद्ध विवेक ने मधुर मुस्कान की मुद्रा में उस रोष को भीतर - ही - भीतर पी लिया । अज्ञान और अहंकार का प्रतिकार ज्ञान और नम्रता से ही हो सकता है । अभयकुमार इस बात को जानता था कि सामन्त ने मगध के महामंत्री का उपहास नहीं किया, किन्तु ज्ञातपुत्र महावीर की क्रांतिकारी त्याग - परम्परा का उपहास किया है । भोग का कीड़ा त्याग की ऊँचाई की कल्पना करे भी, तो कैसे करे ? एक गंभीर और अर्थपूर्ण मुस्कराहट के साथ अभय-कुमार आगे बढ़ गए । सब लोग वन-विहार का आनन्द लेकर अपने - अपने महलों में लौट आए !

दूसरे दिन महामंत्री ने राजसभा में एक - एक कोटि स्वर्ण - मुद्राओं के तीन ढेर लगवाए और खड़े होकर सामन्तों से कहा—“जो व्यक्ति जीवन - भर के लिए कच्चे जल का उपयोग, अग्नि का उपयोग और स्त्री-सहवास का त्याग करे, उसे मैं ये तीन कोटि स्वर्ण मुद्राएँ उपहार में दूँगा ।”

सभा में सन्नाटा छा गया, समागत सभी सामन्त एक-दूसरे के मुँह को ताकने लगे ।

“कितना कठिन...है ?” एक सामन्त ने कहा ।

“इन तीनों के त्याग का मतलब है, एक तरह से जीवन का ही त्याग...फिर तो साधु ही न बन गये...और तब इन स्वर्ण-मुद्राओं का करेंगे क्या ?”...एक दूसरे सामन्त ने पास में बैठे सामन्त से कहा ।

सभा से कोई उत्तर नहीं मिला । महामंत्री फिर खड़े हुए और धीर-गंभीर स्वर में बोले—“लगता है, हमारे वीर सामन्त एक साथ तीन बड़ी शर्तों को देख कर अचकचा गए हैं । अच्छा, तो उनके लिए विशेष सुविधा की घोषणा किए देता हूं, तीनों में से किसी एक ही प्रतिज्ञा करने वाले को भी स्वर्ण-मुद्राएँ दी जा सकती हैं ।”

फिर भी सभा में सन्नाटा छाया रहा । कोई भी वीर सामन्त महामंत्री की इस नरम की गई शर्त को भी स्वीकार करने का साहस नहीं कर सका । महामंत्री ने सभा पर गंभीर दृष्टि डाली—“क्या कोई व्यक्ति यह साधारण-सा त्याग करने का साहस भी नहीं कर सकता...?”

तभी एक समवेत ध्वनि गूँज उठी—“नहीं, नहीं, महामात्य ! यह साधारण कहाँ, यह तो असाधारण साहस है ? एक ही वस्तु के सम्पूर्ण त्याग का अर्थ है—जीवन की समस्त सुख - सुविधाओं का, आनन्द - तमोदों का त्याग ! कितना

असाधारण !”—सामन्तों के सिर नकार में हिल रहे थे ।

“तो फिर सामन्तों ! जिम व्यक्ति ने इन तीनों का त्याग किया हो, वह कितना महान् और कितना वीर योद्धा होगा आध्यात्मिक साधना-क्षेत्र का ?”

“अति महान् ! अति वीर ! अवश्य ही वह अत्यन्त कठिन एवं असाधारण साहस का कार्य करने वाला है, उसका त्याग महान् है ।”—एक साथ कई ध्वनियाँ गुँज उठीं ।

“वीर सामन्तों ! हमने कल जिस मुनि को नमस्कार किया था, वह इन तीनों का ही नहीं, बल्कि ऐसे अनेक असाधारण उग्र-व्रत तथा प्रतिज्ञाओं का पालन करने वाला वीर है, त्यागी है । उसके पास भोग के साधन भले ही अल्प रहे हों, पर भोग की अनन्त इच्छाओं को उसने जीत लिया है । त्याग का मान-दंड राजकुमार या लकड़हारा नहीं हुआ करता, व्यक्ति के मन की सच्ची विरक्ति हुआ करती है ।”

महामंत्री के विश्लेषण पर सामन्त मौन थे, साथ ही प्रसन्न भी । कई झुके हुए चेहरों पर पश्चात्ताप की निर्मल रेखाएँ भौ प्रस्फुटित होती देखीं महामात्य ने । दूसरे ही क्षण, जैसे एक दिव्य नवीन प्रकाश मिल गया हो, सब-के-सब चेहरे पुलक उठे और ‘धन्य धन्य’ के हर्ष - मिश्रित गंभीर घोष से राजसभा का कोना-कोना गुँज गया ।

—आवश्यक निर्युक्ति, हारिभद्रीय टीका, पृ० ६३

—त्रिषष्टिशलाका पुरुलचरित १०-११



एक बार मगध - नरेश श्रेणिक ने राजसभा में बैठे हुए सामन्तों की ओर एक प्रश्न - भरी दृष्टि डाली । सहसा सब के हाथ जुड़ गये और दृष्टि राजा के मुख पर उतरने वाले भावों को समझने में उलझ गई । मगधेश ने प्रश्न किया—  
“राजाहू में अभी सबसे सस्ती और सुलभ खाद्य वस्तु क्या है, जिसे प्राप्त करके साधारण - से - साधारण मनुष्य भी अपनी क्षुधा को तृप्त कर सके ?”

मगधेश के प्रश्न पर सामन्त गम्भीर हो गए । विचार के पर फड़फड़ाने लगे—‘अन्न सबके लिए सुलभ है, सस्ता भी है । पर...पर कहाँ सस्ता और सुलभ है वह ? कृषक कितना कष्ट उठाकर एक - एक दाना धरती के गर्भ से बीनता है ? खून-पसीना एक कर देता है थोड़े-से अन्न के लिए । फिर भी खेती तो बिल्कुल निसर्ग पर निर्भर है । कभी अतिवृष्टि ! कभी अनावृष्टि ! कीट, पतंग, रोग ! कितने दुश्मन हैं उनके ? अनेक दुर्दैवों से बचकर कुछ थोड़ा - सा अन्न वेचारे किसान के हाथों में पहुँचता है । पसीने की जितनी बूँदें वह बहाता है, क्या उतने दाने भी प्राप्त कर सकता है ? फिर सुलभ कैसे हुआ ? अन्न क्रय करने के लिए भी धन चाहिए । अन्न से तो मांस सुलभ है । शिकार के लिए निकल गए जंगल

में, एक बाण से दो-पाँच मृग, शशक मार डाले कि बहुत-सा माँस मिल जाता है। मृगया का आनन्द भी, और भोजन के लिए माँस भी ! एक तीर से दो शिकार। भोजन का इससे सस्ता और सुलभ साधन और क्या हो सकता है ? न प्रकृति की अधीनता, न कोई अधिक श्रम ! मनुष्य जब चाहे, तब इसे प्राप्त कर सकता है।”

मगधपति ने सामन्तों का मौन देखकर अपना प्रश्न पुनः दुहराया। तभी एक सामन्त ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए कहा—“महाराज ! सबसे सस्ती चीज माँस है, जिसे मनुष्य जब चाहे तब सहज भाव से प्राप्त करके अपना एवं अपने परिवार का गुजारा कर सकता है।”

मृगया के रसिक दूसरे सामन्त ने भी सिर हिलाकर समर्थन किया—“हाँ, महाराज। बिल्कुल ठीक बात है। जंगल में पशु-पक्षियों की क्या कमी है ! धनुष - बाण लिया, और मार लाए दो - चार वन्य पशु या पक्षी। बन गया काम ! न कुछ मेहनत, न कुछ खर्च वर्च।”

कोई मृगया का रसिक था, तो कोई माँसाहार का कीड़ा। एक-एक करके सभी सामन्त प्रथम सामन्त की बात का समर्थन करते चले गए।

मगधपति ने महामात्य अभय की ओर देखा। अभय-कुमार गम्भीर चिन्तन की मुद्रा में, विचारों की गहराई में डूबे-डूबे, चिबुक पर हाथ रखे बैठे थे। मगधेश के प्रश्न और

सामन्तों के उत्तर पर अभयकुमार का यह गम्भीर मौन सभासदों के हृदयों को चंचल कर रहा था। अभय ने कहा—  
“महाराज ! प्रश्न इतना सरल नहीं कि तुरन्त इसका उत्तर दे दिया जाय। मैं सोच - विचार के लिए आज की रात का अवकाश चाहता हूँ। कल प्रातःकाल हो सका तो श्रीचरणों में उत्तर उपस्थित कर दूँगा।”

सभा विसर्जित हो गई। मगधेश का प्रश्न अधूरा ही रह गया।

‘मनुष्य का मन कितना विचित्र है ! अपने प्राण उन्हें प्रिय हैं। पर, दूसरे के प्राणों का कोई मूल्य नहीं उसके लिए ? क्या दुर्बल और निरीह प्राणी का जन्म मानव के मनोरंजन के लिए ही हुआ है ? उसके अपने जीवन का कोई महत्त्व नहीं है ? असंख्य स्वर्ण-मुद्राओं से भी अति दुर्लभ ये प्राण क्या मृगयासक्त के एक बाण से भी अधिक सुलभ और सस्ते हैं ? नहीं, यह तो अज्ञान है। जब तक अपने प्राणों के समान ही दूसरे के प्राणों का मूल्य नहीं समझा जाता, तब तक मनुष्य यो ही बहकता रहेगा। ‘पर’ के साथ ‘स्व’ की ऐ-क्यानुमति—यही तो करुणा का स्रोत है। जब तक हृदय में करुणा का उदय नहीं होता, तब तक मनुष्य पराये दुःख और कष्ट की अनुभूति नहीं कर सकता।’ अभयकुमार इन्हीं विचारों में डूबता-उतराता राजसभा से निकल गया। चिंतन में वह इतना गहरा उतर चुका था कि उसे पता ही नहीं

चला, कब वह महाराज को प्रणाम करके राजसभा से चला और अब अशोक - वाटिका में बैठे उसे कितना अधिक समय हो गया। अधिक समय क्या, अब तो काफी रात हो गई है। अंधेरे की काली चादर संसार पर छा गई है। ऊपर नील गगन में कुछ तारे झिलमिला रहे हैं। और, इधर सत्य के प्रकाश का प्रतिनिधित्व करते हुए महामात्य अकेले ही चले जा रहे हैं, उसी सर्व - प्रथम उत्तर देने वाले सामन्त के भवन की ओर।

‘आइए महामात्यवर ! कैसे कष्ट किया आपने !’ सामन्त ने अभयकुमार को गहराती रात के अंधेरे में आया देखा, तो उसका मन आशंकाओं भर गया। स्वर्ण-दीवट पर रखे दीपक के टिमटिमाते प्रकाश में अभयकुमार के चेहरे पर उभरी हुई गम्भीर रेखाएँ साफ पढ़ी जा सकती थीं। अभयकुमार हाँफ रहे थे। कुछ भय आर चिन्तामिश्रित भरायी आवाज किसी महान् संकट की सूचना दे रही थी। महामन्त्री ने अपने को सँभालते हुए कहा— “सामन्त ! मगधपति आकस्मिक भयंकर रोग के कारण मृत्यु - शय्या पर पड़े हैं। कोई उपचार, औषध नहीं लग रही है। वैद्यों का कहना है कि किसी स्वस्थ व्यक्ति के हृदय का मांस मिल सके, तो सम्राट् के प्राण बच सकेते हैं, अन्यथा नहीं। सिर्फ दो तोला हृदय का मांस चाहिए, औषध के लिए। इसके बदले में तुम्हें जितनी भी लक्ष या कोटि स्वर्ण - मुद्रा चाहिए सो

मांस लो। अधिकार या पद चाहिए, तो वह भी मिलेगा। जो चाहोगे वही मिलेगा, सिर्फ दो तोले मांस चाहिए ! महाराज के जीवन - मरण का प्रश्न है। तुम्हारी स्वामि-भक्ति कसौटी पर है आज।” अभयकुमार एक ही साँस में यह सब कह गया, और फिर रुक कर सामन्त के चेहरे की ओर देखने लगा।

सामन्त का चेहरा फट हो गया। “हृदय का मांस ? जब प्राण ही नहीं रहेंगे, तो यह धन, अधिकार किस काम आयेगा ? प्राणों के साथ धन का सौदा ?” सामन्त ने अभय के चरणों में सिर रख दिया, और गिड़गिड़ाते हुए कहा— “महामंत्री ! कृपा करके मुझे जीवन-दान दे दीजिए। आप मेरी ओर से ये लाख स्वर्ण-मुद्रा ले जाइए और किसी ऐसे व्यक्ति के हृदय का मांस, जो लाख स्वर्ण - मुद्रा लेकर देता हो, कृपया ले लीजिए।”

अभय ने गहरी दृष्टि से सामन्त के कातर नयनों पर झलकती जिजीविषा को देखा। जीवन कितना प्रिय होता है ? मांस कितना महँगा है ? क्यों अब कुछ समझे ?—अभय होठों में ही मुस्करा उठा। सामन्त की बहुत अधिक आजिजी के बाद अभयकुमार ने लाख स्वर्ण - मुद्राएँ अपने महल में भिजवा दी और वह आगे चल पड़ा।

सभा में जिन - जिन सामन्तों ने इस सामन्त की बात का समर्थन किया था, अभय उन सबके द्वार पर घूम आया।



दो तोला मांस के बदले, वे लोग लाखों - करोड़ों स्वर्ण-मुद्रा देते गए, अपने प्राणों की भिक्षा मांगते गये। पर, कोई भी माँ का वह लाल नहीं मिला, जो अपने हृदय का मांस देकर सम्राट् के प्राण बचाने को प्रस्तुत हो।

प्रातःकाल कार्य से निवृत्त होकर महामंत्री अभयकुमार प्रश्न का उत्तर देने हँसते - मुस्कराते राज-सभा में उपस्थित हुए। रात-ही-रात समग्र नगर में चर्चा फैल गई थी कि कल प्रातः महामंत्री अपना उत्तर प्रस्तुत करेंगे, और बस, इसी-लिए आज राजसभा में जन-समूह समा ही नहीं रहा था।

महाराज की आज्ञा पाकर अभय ने अपने प्रमुख सेवक को संकेत किया। कुछ ही देर में खन-खनाती करोड़ों स्वर्ण-मुद्राओं का ढेर लग गया राजसभा में। मगधेश आश्चर्य में देख रहे थे। कुछ समझ में नहीं आ रहा था, क्या रहस्य है।

अभयकुमार सम्राट् के सम्मुख करबद्ध खड़ा हुआ। महाराज का अभिवादन करके सामन्तों के शंकाकुल निष्प्रभ चेहरों पर एक दृष्टि डाली और निवेदन किया—“महाराज, आपने पूछा था कि सबसे सस्ती चीज क्या है। हमारे वीर सामन्तों ने उत्तर दिया था कि ‘मांस !’ मैं उन सब सामन्तों के द्वार पर भटक आया, पर इन करोड़ों स्वर्ण - मुद्राओं के बदले दो तोले मांस कहीं नहीं मिल सका। फिर मांस सस्ता कैसे ?” अभय एक क्षण रुका सामन्तों के चेहरे म्लान हुए जा रहे थे। रात्रि की घटना बताते हुए अभय ने कहा—

“महाराज ! दो तोले मांस का यह मूल्य हो सकता है, तो जिसका सारा मांस निकाला जाता है, उसके प्राणों का क्या मूल्य होगा ? असंख्य स्वर्ण-मुद्रा देकर क्या किसी के प्राण का मूल्य चुकाया जा सकता है ? फिर यह कैसी बहक है कि मांस सस्ता है ? हम अपने प्राण और अपने मांस का जो मूल्य आँकते हैं, वही मूल्य दूसरे का प्राण और मांस का क्यों नहीं आँकते ? जीवन का मूल्य अनन्त है । मनुष्य सिर्फ अपनी रस-लोलुपता और विषयान्धता के वश दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड़ करता है, और उसका कुछ भी मूल्य नहीं समझता है । जब वह दूसरों के मांस को अपने मांस से तोलेगा, तभी वह ठीक तरह समझ सकेगा कि वास्तव में मांस का क्या मूल्य हो सकता है ?”

सभा में सन्नाटा छा गया । सामन्तों की आंखें जमीन में झुकी जा रही थीं । विचारों में एक गहरी उथल - पुथल थी । महामंत्री के विवेक-युक्त विश्लेषण पर सब कोई चकित थे । अभय कुमार ने सामन्तों के साथ हुए रात्रिकालीन गुप्त वार्तालाप का विश्लेषण करते हुए बताया कि, एक मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र में जीने की इच्छा कितनी प्रबल होती है ? कोई भी प्राणी अपनी मृत्यु नहीं चाहता ।” फिर अपनी जिह्वा की लोलुपता के कारण मनुष्य किसी के प्राणों को लूट कर उन्हें सस्ता कैसे कह सकते हैं...?

उपदेशतरंगिणी, पृष्ठ १०



( आचार्य रत्नमाला गणी )

अंग और मगध का एक-छत्र सम्राट् अजातशत्रु कूणिक श्रवण भगवान् महावीर का उच्च कोटी का भक्त नरेश था । अपने राज्य में उसने इस प्रकार का एक स्वतन्त्र विभाग कायम किया था, जो प्रतिदिन भगवान् महावीर के जनपद विहार कालीन कुशल-समाचारों से राजा को सूचित करता रहे । इस विभाग में उच्च वेतन पाने वाले अनेक कुशल कर्मचारियों की नियुक्ति की गई थी । राजा कूणिक जब तक भगवान् महावीर का सुख-समाचार सुन नहीं लेता था, तब तक अन्न - जल ग्रहण नहीं करता था ! इस प्रकार भगवान् महावीर के प्रति उसकी अत्यन्त गहरी श्रद्धा-निष्ठा थी ।

एक बार कूणिक के मन में अपनी प्रभु-भक्ति और श्रद्धा का गर्व जगा । उसने भगवान् से प्रश्न किया—“भन्ते ! मैं मर कर किस गति में जाऊँगा ?”

“राजन् ! तुम अपनी आयु पूर्ण करके छठे नरक में जाओगे”—भगवान् ने अपनी गुरु-गंभीर वाणी में सत्य को स्पष्ट किया ।

कूणिक के मन - मस्तिष्क में जैसे बिजली कौंध गई । “प्रभो ! मैं आपका भक्त होकर भी नरक में जाऊँगा ?”

भगवान् ने कूणिक को उद्बोधित करते हुए कहा—  
“राजन् ! भक्ति और श्रद्धा की बात करते हो ? परन्तु इससे पहले जरा अपना जीवन तो देखो ! स्वर्ग और नरक में कोई किसी को भेज नहीं सकता, कोई किसी को रोक नहीं सकता । अपने अच्छे-बुरे आचरण ही आत्मा को स्वर्ग और नरक की यात्रा पर ले जाते हैं । तटस्थ होकर अन्तर्दृष्टि से अपने कृत - कर्मों को देखो, समाधान मिल जाएगा ।”

भगवान् की वाणी पर सम्राट् कूणिक क्षण-भर स्तब्ध रह गया । वह मन-ही-मन सोचता रहा — “इतने निस्पृह हो प्रभु तुम ? अपनी भक्ति करने वालों को भी नरक से नहीं उबारते ?” और फिर उसकी दृष्टि जरा अन्तर् में धूम गई—  
‘प्रभु ठीक ही तो कह रहे हैं, कितना निकृष्ट रहा है मेरा जीवन ! राज्यलिप्सा के लिए मैंने अपने भाइयों को गाँठ कर पिता को कैद में डाला, भयंकर यातनाएँ दीं । छोटे भाइयों की सम्पत्ति पर भी ललचाता रहा । उनसे हार एवं हाथी छीनने के लिए भयानक युद्ध किया । वैशाली के रणक्षेत्र में भयंकर जन - प्रलय मचाने वाला कौन है ? मैं ही तो हूँ । मनुष्यों के रक्त से आप्लावित वह लाल मिट्टी युग - युग तक मेरी क्रूरता की कहानी कहती रहेगी । अपनी महत्त्वा—  
कांक्षाओं की पूर्ति के लिए भाइयों को युद्ध की अग्नि में होम डाला, नाना चेटक के करुण विनाश का निमित्त भी मैं ही हूँ । लाखों माताओं की गोद सूनी हो गई । सहस्राधिक तरुणियों

के सुहाग लुट गए। छल-कपट करके वैशाली जैसे महानगर को ध्वस्त कर डाला। कितना क्रूर और अन्यायपूर्ण रहा है मेरा जीवन ! पितृ - कुल और मातृ - कुल का विनाश करने वाली यह दहकती ज्वाला मैं ही तो हूँ। क्या भावी इतिहासकार मुझे कुलांगार के रूप में चित्रित नहीं करेगा !'-क्षणभर कूणिक की आँखें बंद रही, और विगत जीवन के हृदय-द्रावक दृश्य एक के बाद एक उसकी आँखों के सामने घूमते गए। उसे अपने आप पर भयंकर ग्लानि हो उठी, पश्चात्ताप से उसकी आँखें कुछ-कुछ गीली भी हो आई।

परन्तु, दूसरे ही क्षण उसने दृष्टि पीछे की ओर घुमाई। बड़े-बड़े सेनापति, वीर योद्धा और विशाल सेना उसके संकेत पर मर-मिटने को तैयार खड़ी थी। कूणिक का क्षत्रिय - दर्प जाग उठा—‘मैंने यह सब कुछ किया, तो इसमें ऐसा क्या बुरा किया ? यह तो मेरा क्षत्रिय-धर्म है। मुझे तो आगे बढ़ना है, विश्व-विजेता सम्राट् बनना है।’ सम्राट् कूणिक के आँखों में पश्चात्ताप के आँसुओं की जगह विश्व-विजेता बनने के स्वप्न चमक उठे। उसने प्रभु से पूछा, “भन्ते ! छठे नरक में और कौन जाता है ?” भगवान् ने उत्तर दिया—चक्रवर्ती की भोगासक्त पटरानी छठे नरक में जाती है।”

यह सुना तो कूणिक ने एक और प्रश्न उपस्थित किया—“स्वयं चक्रवर्ती मरकर कहाँ जाता है ?”

प्रभु ने कह—“चक्रवर्ती, चक्रवर्ती अवस्था में ही मरे, तो वह सातवें नरक में जाता है।”

कूणिक का रजोगुण से प्रेरित क्षत्रिय स्वभाव नरक की प्रतिस्पर्धा में भी दौड़ गया—‘मैं एक नारी के स्थान पर जाऊँगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं भी चक्रवर्ती के समान सातवें नरक में क्यों नहीं जा सकता ?’

सर्वज्ञ महावीर कूणिक के हृदय में उछलते अदम्य दर्प की वर्ण-माला को पढ़ रहे थे। उन्होंने समाधान दिया—“कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नहीं बन सकते। नियमानुसार इस अवसर्पिणी युग के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं। अब और कोई नया चक्रवर्ती कैसे हो सकता है !”

कूणिक का अहंकार सीमा तोड़ रहा था—“मैं चक्रवर्ती क्यों नहीं बन सकता। मेरी भुजाओं में बल है। मेरे पास अनेक सहस्र स्वर्ण एवं रत्नों के कोष हैं, विशालवाहिनी मेरे एक संकेत पर अपना जीवन होम देने के लिए प्रस्तुत है। बस, और क्या चाहिए चक्रवर्ती बनने के लिए ?”

प्रभो ! चक्रवर्ती के लक्षण क्या हैं”

प्रभो ने बताया—“चक्रवर्ती के शासन में चौदह रत्न होते हैं, छह खंड के साम्राज्य का अधिवर्ती होता है वह।”

कूणिक के विचारों में चक्रवर्ती बनने का ‘अहं’ जाग उठा था। उसने चक्रवर्ती के कृत्रिम (नकली) चौदहा रत्न तैयार

किये । मित्र राजाओं की और अपनी सेनाएँ साथ लीं, और बड़ी धूम-धाम से छह खंड की विजय - यात्रा करने के लिए निकल पड़ा । बाहुबल और सैन्य बल के अभिनिवेश में चूर कूणिक आगे बढ़ता गया । तीन खंड विजय करने के बाद वैताद्व्य पर्वत की तमिस्रा गुफा के द्वार पर पहुंचा । तीन दिन का उपवास करके द्वार-रक्षक देव को याद किया । कृतमल नामक द्वार - रक्षक देवता आकर आकाश में उपस्थित हुआ और पूछा—“तुम कौन हो ? किस लिए यहाँ आए हो ?”

कूणिक ने अहंकार-भरे शब्दों में कहा—“मैं मगध नरेश अजातशत्रु कूणिक हूँ । भारतवर्ष के छहों खण्डों को विजय करके चक्रवर्ती बनूँगा । द्वार खोलो, मुझे वैताद्व्य पर्वत के उत्तर में दिग्विजय करने के लिए जाना है ।”

देवता ने कहा—“राजन् ! लौट जाओ ! तुम महत्व-कांक्षाओं के तूफान में भटक गए हो । कालचक्र के नियमानुसार इस युग के बारह चक्रवर्ती हो गये, अब कोई अन्य चक्रवर्ती सम्राट् इस युग में नहीं हो सकता ।”

“मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती बनूँगा । मेरी भुजाओं में बल है । बड़े-बड़े मुकुट - बद्ध छत्रपति राजा मेरे अधीन हैं । सागर की उन्मत्त लहरों की तरह विशाल सेना मेरे पीछे बढ़ी आ रही है । चौदह रत्न मेरे पास हैं । मैं चक्रवर्ती क्यों नहीं बन सकता ! मैं चक्रवर्ती बनूँगा, अद्वय बनूँगा । तुम कौन होते

हो, इन्कार करने वाले ? तेरा काम है द्वार खोलना, बस द्वार खोलो और अपना रास्ता नापो ।”—कूणिक गरज उठा ।

देवता ने फिर समझाया—“राजन् नकल, नकल है । वह असल का काम नहीं कर सकती । ये चौदह रत्न तुम नकली बनाकर लाए हो । कहीं ऐसे चक्रवर्ती बना जाता है ? सिंहचर्म ओढ़कर शृंगार सिंह कैसे बन सकता है ? मान जाओ, तुम चक्रवर्ती नहीं हो सकते । अपनी कुशल-क्षेम चाहते हो, तो लौट जाओ ।”

कूणिक का क्रुद्ध अहं फुफकारने लगा । वह देवता पर गरम हो उठा । हाथ में अपना कृत्रिम दण्डरत्न उठाया और देवता को ललकारा । द्वार खोलने की चुनौती दी ।

देवता ने आखिरी चेतावनी दी—“मदान्ध सम्राट् ? पागल न बनो । अपने भले के लिए लौट जाओ । मैं कहता हूँ, द्वार नहीं खुलेगा । खबरदार उसको छू भी लिया तो ...!”

इस पर कूणिक अड़ा रहा और द्वार तोड़ डालने के लिए ज्यों ही दण्ड को जोर से मारा कि द्वार से अग्नि की भयंकर ज्वालाएँ फूट पड़ीं, कूणिक वहीं पर ज्वालाओं में झुलसकर देखते-ही-देखते राख का ढेर हो गया ।

—आदर्शक चूर्णि, उत्तरार्द्ध पत्र १७६

—दशवैकालिक, हारिभट्टीय पृ० ४







# प्रेरक कथा - साहित्य



१	पीयूष - घट	२.५०
२	बुद्धि के चमत्कार	१.५०
३	भगवान महावीर की बोध कथाएँ	२.५०
४	जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ	२.५०
५	जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ	२.५०
६	प्रत्येक बुद्धों की जीवन कथाएँ	२.५०
७	सोलह सती	३.००



सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामण्डी, आगरा-२८२००२

वीरायतन

राजगृह-८०३११६